परमार्थसार - एक अध्ययन

A Study of Paramārthasāra

जम्मूं विश्वविद्यालय की एम० फिल संस्कृत की उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध

A DISSERTATION SUBMITTED FOR THE AWARD OF

M.Phil DEGREE IN SANSKRIT OF

JAMMU UNIVERSITY

निर्देशक :-

डा० जागीर सिंह

(एम० ए०, एम० फिल०, पी. एच. डी)

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर संस्कृत

विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

शोधछात्रा :-

मन्जू शर्मा

दिसम्बर - 2000

IIIrd copy

Forwarded to the
Controller of Exam.

Professor & Head
Post Graduate Department of [illegible]
Jammu University

15/3/2001

परमार्थसार - एक अध्ययन
A Study of Paramărthasāra

जम्मूं विश्वविद्यालय की एम० फिल संस्कृत की उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध

A DISSERTATION SUBMITTED FOR THE AWARD OF
M.Phil DEGREE IN SANSKRIT OF
JAMMU UNIVERSITY

निर्देशक :-
डा० जागीर सिंह
(एम० ए०, एम० फिल०, पी. एच. डी)
प्राध्यापक, स्नात्कोत्तर संस्कृत
विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

दिसम्बर - 2000

शोधछात्रा :-
मन्जू शर्मा

CERTIFICATE

It is certify that :-

1. The Dissertation of Miss Manju Sharma entitled A Study of "Paramārthasāra" embodies the work of the candidate herself.

2. That the candidate worked under me for the period of required under statutes.

3. That she has put in the required attendence in the department of Sanskrit during that period.

(Dr. Jagir Singh)
Reader
P.G. Department of Sanskrit
University of Jammu
JAMMU - 180001

December, 2000

विषयानुक्रमणिका

संकेत-सूची

1.	अ०	अध्याय
2.	अ० प्र० पं०	अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका
3.	अभि भा०	अभिनव भारती
4.	अभि वृ० मा०	अभिधावृतिमात्रिका
5.	आह०	आह्निक
6.	आ० वि०	आत्मविलास
7.	ई० प्र० भि० वि०	ईश्वर प्रतिमज्ञा विमर्शिनी
8.	ई० प्र० भि० का०	ईश्वर प्रतिमिज्ञा कारिका
9.	भा० खं०	भास्करी खण्ड
10.	ई प्र० भि० वि०	ईश्वरप्रतिभिज्ञा विवृति
11.	वि०	विमर्शिनी
12.	का० अ० सा०	काव्यालङ्कारसार
13.	का० प्र० चतु० उ०	काव्यप्रकाशचतुर्थ उल्लास
14.	का० प्र० वा० वो०	काव्यप्रकाश वालवोधिनी
15.	टी०	टीका
16.	का०	कारिका
17.	कवि० क० आ०	कविकण्ठाभरण
18.	क्र० स०	क्रमस्तोत्र
19.	गु० ना० पर०	गुरूनाथ परामर्श

20.	गौ० ना० परा०	गौड़नाथ परामर्श
21.	घ० क० वि०	घटकर्परकुलक विवृति
22.	छा० उप०	छान्दोग्योपनिषद
23.	ज० सू०	जपसूत्र
24.	टी०	टीका
25.	तं० आ० वि० वि०	तन्त्रलोक विवृत्ति विवेक
26.	तं० सा०	तन्त्रसार विवेक
27.	तं० भ० धा०	तन्त्रभट्टधानिका
28.	ध्व० आ०	ध्वन्यालोक
29.	ध्व० आ० लो०	ध्वन्यालोक लोचन
30.	नृ० पू० ता०	नृसिंहपूर्वतापनी
31.	पार० च०	परमार्थचर्चा
32.	पार० सा०	परमार्थासार
33.	पृ०	पृष्ठ
34.	परा० त्रि० वि०	परात्रिंशिका विवरण
35.	प्र० भि० ह०	प्रतिभिज्ञाहृदयम
36.	वि० भै०	विज्ञानभैरव
37.	बृ० क० मं०	बृहद्कथामंजरी
38.	वो० पं० द०	वोधपञ्चदशिक
39.	भग० गी० सं०	भगवतगीतार्थ संग्रह
40.	भग० गी०	भगवतगीता
41.	भै० स्०	भैरवस्तोत्र

42.	भा०	भाग
43.	मा० वि० वा०	मालिनिविजयवार्तिक
44.	मा० वि० तं०	मालिनि विजय तन्त्र
45.	मा० उप०	माण्डूक्योपनिषद
46.	मु० उप०	मुक्तिकोपनिषद
47.	रह० पं०	रहस्य पंचदशिका
48.	रा० त०	राजतरङ्गिणी
49.	श्लो०	श्लोक
50.	शि० दृ० वि०	शिवदृष्टि विवृति
51.	शि० सूत्र	शिव सूत्र
52.	ष० त्रि त० स०	षटत्रिंशिक तत्वसंदोह
53.	ष० त्रि त०	षटत्रिंशिकातत्व
54.	स्प० का०	स्पन्दकारिका
55.	साँख्० का०	साँख्य कारिका
56.	यो० वा० शा०	योंगवासिष्ठशास्त्र

प्राक्कथन

बिभिन्न भाषाओं के अध्ययन के प्रति मेंरी रूचि सतत् रही तथा नाना भाषाओं को सीखने हेतु मेरा निरन्तर प्रयास रहा है! प्राथमिक शिक्षा के अनन्तर मैने अन्य बिषयों के साथ संस्कृत भाषा का भी एक विषय विशेषरूप से चयन किया था! एम० ए० में प्रवेश करने पर मुझे प्रथम सत्र में साहित्य भाषाबिज्ञान तथा दर्शन आदि क्षेत्रों से सम्बद्ध ज्ञान अर्जन एवं अध्ययन करने का सुअवसर उपलव्ध हुआ! जिसके परिणामस्वरूप साहित्य में मैनें काव्य आदि के बिषय में ज्ञान प्राप्त किया तथा भाषा बिज्ञान में नाना भाषाओं की उत्पत्ति विकास के अतिरिक्त भाषा से सम्बन्धित अनेक ऐसी बातें जिनका ज्ञान मुझे पहले नहीं था, प्राप्त हुआ! किन्तु दर्शन के अध्ययन से मुझे इसके (दर्शन) प्रति विशेष लगाव या झुकाव हुआ! परन्तु ऐसा भी नहीं था कि साहित्य अथवा भाषाबिज्ञान या अन्य क्षेत्र मेरे लिए महत्वपूर्ण नहीं थे! वास्तव में दर्शन के अध्ययन की आध्यात्मिक शक्ति एव जिज्ञासा ने मुझे अपने प्रति आकृष्ट किया!

यद्यपि एम० ए० के तृतीय सत्र में ग्रुप विभाजन के कारण मुझे भाषा विज्ञान का ही चयन करना पड़ा तथापि मैने एम० फिल० में दर्शन से सम्बन्धि बिषय विशेषकर काश्मीर शैव दर्शन के क्षेत्र से विषय का चुनाव किया! क्योंकि जिस जिस क्षेत्र की मैं पहले बात कर चुकी हूँ उनका तथा दर्शन का अध्ययन करने के पश्चात् मुझे अनुभव हुआ कि दर्शन ही एक ऐसा क्षेत्र है जो जीवन के तथ्यों को मनुष्यों के समक्ष उपस्थित करता है मानव के जीवन का जो परमार्थिक लक्ष्य है उस तक पहुँचाने में सहायता यही प्रदान करता है! अन्य क्षेत्रों का तो केवल भौतिक जीवन में महत्व है लेकिन दर्शन का क्षेत्र जीवन के निकट होने से जीवन की वास्तविकता से अवगत कराने के साथ साथ ईश्वर ज्ञान समबर्धन भी करता है जो कि मनुष्य जनों का परम प्रयोजन है!

भारतीय दर्शन का अंशिक अध्ययन तो केवल एम० ए० के प्रथम सत्र में किया था, परन्तु काश्मीर शैव दर्शन का क्षेत्र मेरे लिए नबीन था! इसलिए इस दर्शन में बिशेषकर परमार्थसार के अध्ययन की दृष्टि से मैने अनुसंधान कार्य का विषय लेना चाहा!

काश्मीर शैव दर्शन का क्षेत्र तो वहुत विस्तृत है! इतनी अल्पावधि में सम्पूर्ण ग्रन्थें का अध्ययन सम्भव नहीं होता! अतः "परमार्थसार एक अध्ययन" का विषय मैने शोधकार्य के लिए सुचयन किया!

इस शोध प्रबंध के अध्यायों को निम्नलिखित रूप से विभाजित किया गया है

इसके प्रथम अध्याय में आचार्य अभिनवगुप्त का जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश के साथ साथ योगराज जी का भी जीवन वृतांत उद्घाटित किया गया है!

द्वितीय अध्याय में आचार्य अभिनवगुप्त विरचित कृतियों का परिचय उपलब्ध होता है तथा परमार्थसार पर रचित योगराज का भाष्य परिचय भी लिखित है!

तृतीय अध्याय में परमार्थसार में सकंलित सामग्री का सार दिया है जिसके अन्तर्गत परमसत्ता, जीव, जगत्, छत्तीस तत्व, मल, वन्ध, उपाय, मोक्ष, शक्तिपात, अवस्थाएँ, योग, योगी, भैरवयाग् आदि का विस्तृत विकरण प्रस्तुत किया गया है!

चतुर्थ अध्याय में परमार्थसार का अन्य भारतीय दर्शनों में स्थान निर्धारित किया गया है!

उपसहांर में पूर्वोक्त अध्यायों में वर्णित तथ्यों का निष्कर्ष वतलते हुए वर्तमान समय में काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन की उपयोगिता वताई है!

इस शोधकार्य को पूर्ण करने में प्रमुख सहयोग देने के अधिकारी महनुभाव डा० जागीर सिंह जी है! उन्ही के ज्ञानपूर्ण निर्देशन तथा स्नेहयुक्त व्यवहार से मै अपने शोधकार्य में सफलता पा सकी हूँ! इनके प्रति केवल आभार प्रकट करने से ही में ऋण से मुक्त नहीं हो सकती हूँ, परन्तु फिर भी औपचारिक रूप में उनके लिए कृतज्ञता प्रकट करती हूँ!

इस शोध कार्य की अवधि में अन्य प्राध्यापक साहिबान ने जो सम्पूर्ण सहयोग दिया, वह कभी भी नहीं भूलाया जा सकता, इयलिए मैं उनके प्रति भी आभारी हूँ!

विभागीय कार्यलय के कर्मचारी एचं कम्प्यूटर कर्ता राजेश गुप्ताजी का भी धन्यवाद करती हूँ! अपने विभाग के पुस्तकालय के अधिकारी " श्री विजय वड़ियाल" और "जितेन कुमार" की भी में आभारी हूँ, जिन्होने समय समय पर पुस्तकें देकर मुझे सहयोग दिया! श्री रघुनाथ पुस्तकालय और विद्यापीठ पुस्तकालय के कर्मचारी वर्ग का भी आभार प्रकट करती हूँ इसके अतिरिक्त शोधछात्र वर्ग का सहयोग भी प्रशंसनीय है!

अपने माता-पिता और भैया के प्रति भी में बहुत आभारी हूँ जिन्होने हर प्रकार से मुझे सहयोग दिया और मुझे शोधकार्य करने की आज्ञा भी दी!

सविनय भगवती पराशक्ति से समस्त बिश्व के कल्याणार्य प्रार्थना कर विद्वज्जतों से शोधकार्य की सफलता हेतु आर्शीवाद आकांक्षी,

दिसम्बर, 2000

शोध छात्रा

मंजू शर्मा

प्रथम अध्याय

(क) अभिनवगुप्त का जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व

(ख) योगराज का जीवन परिचय

अभिनवगुप्त का जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व

प्राचीन काल से भारत का शिरोभाग कश्मीर संस्कृत विद्या का प्रमुख केन्द्र रहा है! यह पवित्र स्थान प्रकृतिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही स्वयं को आध्यात्मिकता से आच्छादित किये हुए समुचे विश्व में सुविख्यात है! पाक-पवित्र इस धरती पर महान ऋषि-मुनियो, काव्यकारों, साहित्यकारों नाटककारों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों ने अवतरित होकर इसको महिमशाली एवं गौरवान्वित किया है! दार्शीनक परम्परा में अद्धैत काश्मीर शैव दर्शन की श्रेष्ट विभूतियो वसुगुप्त, सोमानन्द तथा उत्पलदेव आदि ने इसके प्रचार एव प्रसार में अत्यदिक महिमान्वित योगदान दिया! इसी सम्प्रदाय में प्रगण्ड दार्शनिक सुप्रसिद्ध अभिनवगुप्त हुए जिन्होनें दार्शनिक क्षेत्र के साथ-साथ काव्य और साहिन्य क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा दिखलाई!

अभिनवगुप्त आचार्य का जीवन चरित

आचार्य अभिनवगुप्त का जीवन वृतान्त एवं वशंजो के विषय में जानकारी हमें उनकी सम्पूर्ण कृतियों में से बिशेकर तन्त्रलोक में उपलब्ध होती है! इनके द्वारा सर्वाधिक उत्कृष्ट रचित 'तन्त्रालोक' में लिखित, साहित्य, कला और विद्वान जनों के प्रति स्नेह भाव होने के हेतु तत्कालीन नरेश ललितादित्य कन्नौज राज्य में आवासित इनके श्रेष्ठ पूर्वज अत्रिगुप्त को अपने यहाँ कश्मीर में लाये थे![1] कल्हण कृत 'राजतरङ्गिणी' में कन्नौज के अधिपति यशोवर्मण एवं कश्मीर राजा ललितादित्य के परस्पर यद्ध का उल्लेख उपलब्ध होता है! इसी वर्णन अनुसार

1. अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधानः प्राप्योत्पतिं प्रविशत्प्राग्रथजन्म!

श्रीकाश्कीरांश्चम्द्रडावतारौर्नः सख्याकेपावितौषान्तभागन!! (परा० त्रि० वि० पृ०) 190

ललितादित्य ने यशोवर्मन को युद्ध में परास्त कर दिया था और विजय भेंट के रूप में अमूल्य शारदारत्न अत्रिगुप्त को काश्मीर ले आये![1] राजा ने उनको भूमि एवं धन सम्पत्ति आदि देकर सम्मान सहित वितस्ता नदी के तट पर अवास स्थान दिया![2] अत्रिगुप्त के पश्चात् इनके वशं में कुछ समय् उपरान्त वराहगुप्त हुये थे, इनका नरसिंहगुप्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो सकल शास्त्र विशारद के नाम से विख्यात था! ये लोक में चुखुलक नाम से भी जाने जाते थे! वह शिव के भक्त थे! इनके यहाँ प्रकाण्ड़ आचार्य अभिनवगुप्त ने जन्म लिया![3] इनकी माता का नाम विमलकला था, वह अत्यन्त साध्वी एवं पवित्रात्मा थी![4] वे अपने माता-पिता को शिव और शक्ति के सदृश्य अर्चना योग्य मानते थे तथा उनकी अनुभूति थी कि उनकी सृष्टि शिव और शक्ति के सामरस्य से ही है! अतएव इनको 'योगिनीभू:' भी कहते हैं![5] इनके चाचा वामनगुप्त थे जो एक परम प्रकाण्ड़ विद्धान थे![6]

1. राजा श्री लीलतादित्य: सार्व भौमस्ततोडभवत् ..... यशोवर्मा द्रिवाहिन्या: क्षणात्कुर्वन्विशोषणम् ...... जिवो ययौ यशोवर्मा तदगुणस्तुतिवन्दिताम् ...... अभूदकालिगातीरं गृहप्राङ्गणवद्वशो!! (राज० त० 4, 126, 145)

2. तस्मिन कुवेरप्रचारिसितांशु भौलिसाँमुख्यदर्शन ...... ! व्रेतरस्तरोधसि ..... परिकल्पित भूरिसंपत!! - (तं० आ० आह० 37, 52)

3. तस्यान्वये महति कोडपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान स्वयमन्तकाले! गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा!! तस्यात्मजः चुखुलकेतिजने नरसिहगुप्त:!! (त० आ० आह० 37, 53, 54)

4. विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनक:! तदुभयायामलस्फुरितभावविसगमिथं ...... मम् संस्फुरतात्!! (तं० सा० श्लो०)

5. शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्चा न कुर्यान्मानवीं वुद्धिं रागमोहा- दिसंचुताम्!! ज्ञानभावनया ...... साधकोत्तमै:! तादृड् मेलककलिकाकलिततनुर्यो ......उक्त: सयोगिनी भू: स्वयमेव ...... भक्त: (तं० आ० आह० श्लो० 14, 15)

6. तत्र हास्याभासौ यथास्मत्थितृव्यस्य वामनगुप्त लोकोतराणि चारितानि!! (अमि भा० भा०। - 297)

जिनके क्षेम, उत्पल, अभिनव चक्रक और पदमगुप्त नामक पाँच पुत्र हुये! वे अत्यन्त सुयोग्य सम्पूर्ण शास्त्र ज्ञाता और भगवान पशुपति के पुजारी थे![1] अतः इनका शैशव विधा सम्पन्न कुल एव सुखमय वातावरण में व्यतीत हुआ परन्तु दर्भाग्यवश इन पर दुःखो का पहाड़ टूट पड़ा क्योंकि, वाल्यकाल में ही माँ के स्नेह एवं ममता सें वंचित हो गये![2] वे अपनी मांता की अकाल मृत्यु के शोक से अभी उभर भी नहीं पाए थे कि उनके पिता ने स्वंयपत्नी वियोग हेतु गृह परित्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया! उनके इस कठोर निश्चय को परिवर्तन करने में पुत्र प्रेम भी वाधक न वन सका! जिसके परिणामस्वरूप इनके दग्ध हृदय में वैराग्य की तीव्र

प्रेम भी वाधक न वन सका! जिसके परिणामस्वरूप इनके दग्ध

ा जागृत हुई! पूर्णतया विरक्त होने पर भी इनका स्वंय माता-पिता के प्रति स्नेह इनके ण हृदय को आद्रित कर देता था[3]! इस प्रकार माँ पिता के वात्सल्य से रहित वे अपना ा समय शिव भक्ति और तत्साधक अध्यात्म शास्त्र अध्ययन में विताते थे और उन्होने तत्य के गूढ रहस्य को जानने की इच्छा से अनेकानेक गुरूयों के शिष्ययन को स्वीकार ा![4] अभिनवगुप्त के मत में जिस प्रकार भंवरा पुष्प को रस एवं सुगन्धि का इच्छुक होकर फूल से दूसरे पुष्प का पान करता है ठीक उसी प्रकार जिज्ञासु शिष्य को ज्ञान लाभ हेतु क गुरू के पास जाना चाहिए![1] उनका सम्पूर्ण समय शिवमय माना जाता था! क्योंकि वे

. अन्ये पितृव्यतनयाः शितशक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपदम गुप्ताः! ये संपदं ...... भावयन्तः!! (तं० आ० आह० 37 - 67)

2. माता व्यूयुजदमं किल बाल्य एवं दैवो हि भाविषरिर्कमणि सरकरोति! -(तदेव, श्लो० 53)

3. माता परं बन्धुरिंति प्रवादः स्नेहोऽतिगढी गुरूतेहि पाशान! तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य मन्ये स्थिता जीवन एव मुक्तिः!! (तदेव, श्लो० 57)

4. साहित्यतान्द्ररखभोगपरो महेशभक्त्या स्वयं ग्रहणदुर्मदया गृहीतः! स तन्मयीभूय न ...... केवलं पनः! तदीयसंभोगवि वृद्धये पुरा गुरूवेश्मसु स्वयमू!! - (तदेव, श्लो० 58, 59)

शिव समावेश के चमत्कारो के आभास से शेष रहे समय में शास्त्र रचना करते थे! "प्रतिभिज्ञा" और 'क्रमसिद्धान्त' में वे सोमानन्द, उत्पलदेव और लक्ष्मणगुप्त को अपने गुरू वतलाते हैं![2] इनके पिता व्याकरणशास्त्र के प्रकाण्ड पाण्ड़ित्य हेतु लोक प्रसिद्ध थे![3] उन्ही से इनको व्याकरण शास्त्र का ज्ञान अर्जित हुआ था! कौलमत में इन्हे आत्मज्ञान की परितृप्ति एवं सिद्धि कौल मत में सिद्धहस्त शम्मुनाथ से प्राप्त हुई तथा उनके शम्भु समान ही मानते थे![4] ब्रह्माविद्या में वे स्वंय को भूतिराज का शिष्य स्वीकरते हैं![5] भूतिराज के पुत्र ही द्वैताद्वैत सम्प्रदाय में उनके शिक्षक थे![6] साहित्यशास्त्र का ज्ञान विशेषकर "नाटयशास्त्र" तो इन्होने भट्टतोत से ग्रहण किया![7]

1. उक्तं च श्रीमते शास्त्रे तत्र-तत्र च भूयता! आमोदार्थो ...... पुष्पात्पुष्पा-न्तरं व्रजेत्!! विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं त्विति! गुरूणां भूयसां मध्ये यतो विज्ञानमुत्तमम्!! (तं० आ० वि०, आह० 22 श्लो० 45, 46)
2. त्रैयम्बकप्रसरसागरवीचिसोमानन्दात्मजोत्पलक्ष्णगुप्तनाथः!! (त० आ० आह० 37 श्लो० 061)
3. पित्रा स शब्दगहने कृतसंप्रवेशः ...... मलपूतचित्तः!! (तदेव श्लो० 58)
4. श्रीशम्मुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसंकोचम्! अभिनवगुप्तहृदम्बुजम् (तदेव श्लो० 5)
5. अथोच्यते ब्रह्याविधा सद्यः प्रत्ययदापिनी शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत्!! (तं० आ०, आह० 3 पृ० 194)
6. श्रीनाथसंततिमहाम्बरधर्मकान्तिः श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृपसादः!! (तं० आ०, आह० 37 श्लो० 060)

सद्धिप्रतोतवदनौदितनाट्यवेददतव्वार्भम ...... माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः ......
7. विश्दीकरोति!! (अभि० भा०, भा०, मं० श्लो० 4)

ध्वनिसिद्धान्त और आम्नाथ शास्त्र में वह स्वयं को भट्टेन्दुराज का शिष्य वतलाते हैं! वामननाथ ने इन्हें द्वैततन्त्र का ज्ञान दिया![2] तन्त्रो का ज्ञान सुमतिनाथ द्वारा ही इन्हें प्रदत्त है! अर्धत्रयम्वक् शाखा में विधवता सिद्ध श्रीसोम से सम्पूर्ण ज्ञाता श्री शम्भुनाथ ने प्रदान की थी![3] अभिनवगुप्त ने सकलज्ञान एवं र्सवशास्त्र ज्ञाता होने के लिए ही न्याय, मीमांसक आदि दर्थनो के आचार्यो की शिष्यता स्वीकार की थी![4] परन्तु वौद्ध, जैन आदि दर्शनों के आचार्यो को केवल उन दर्शनों का ज्ञान अर्जित करने के लिए गुरू स्वीकार किया न कि उनके पदचिन्हो पर गमन करने के लिए! तत्विक ज्ञान और सेवा भाव के प्रति अटूत श्रद्धा हेतु वे गुरूजनों के सेवापात्र बन जाते थे और गहन रहस्यों से सुविज्ञ होने के लिए उनकी भक्ति वन्दना में तल्लीन हो जाते थे! इस प्रकार इनमें विविध गुरूयों की भक्ति फलीमूत हुई! जिस प्रकार मधुमक्षिकायें सुरक्षित पुष्यों से ही एक अत्यन्त मधुर एवं समस्त जनों के लिए उपयोगी वस्तु शहद के रूप में प्रकट करती उसी प्रकार इन्होनें भी एक वृहद् साहित्य की सृष्टि की! इनकी कृतियों में विशेषकर प्रत्यभिज्ञा, तंत्र और साहित्य मुख्य हैं! क्रम और कौल सिद्धान्त पर इनका स्वयं अधिपत्य था इसी कारण तत्कालीन घटित एक सर्वधर्म आचार्य गोष्ठी में इनकी उत्कट प्रतिभा एवं महान विद्वता को दृष्टि में रखकर इनको सर्वधर्म गुरू की उपाधि प्रदान की गई थी![1] अर्थात वे सभी धर्मो के सुज्ञाता एवं कुशल एवं प्रवीण ज्ञानी थें! मालिनी विजयवातिर्क के

---

1. भट्टेन्दुराजादाम्नाय विविच्य च चिरधिया! कृतोऽभिनवगुप्तेन ...... गीतार्थखग्रहः!!
(मा० गी० अ० सं०, श्लो० 6)
2. आनन्दसन्ततिमहार्णवकर्णधारः ...... वामनाथः! (त० आ० आह० 37 श्लो० 60)
3. (क) तुर्थाख्यसतति ...... महौदधिपूर्णचन्द्र, सोमतः सकलवित्किलशम्भूनाथः! (तदेव 6)
खारतुर्याख्यसंततिअध्त्रयम्वकाभिख्या - (तदेव वि० पृ० 4/5)
4. अहमप्यतं एवाधः शास्त्रदृप्टिकुतूहलात्!
नास्तिकार्हतबौद्धादीनुपाध्यायान सेविषम्! (त० आ० आह० पृष्ठ 206)

अनुसार अभिनवगुप्त के मन्द्र नामक शिष्य उनके क्लेश निवारण हेतु उन्हे स्वनगर प्रवरपुर में ले गया तथा उनके रहने का वही सुप्रबन्ध किया! वहाँ ही अभिनवगुप्त ने अपने मन्द्र और कर्ण नामक शिष्यों के आग्रह करने पर "मालिनी विजयवार्तिक" की रचना की![1] उनके जीवन का मुख्य प्रयोजन शिष्यो के ज्ञानवर्धन के लिए असीमित ज्ञानराशि का सचंय करना तथा श्रेष्ठ कृतियों की रचनाओ के द्वारा परमसत्ता के वास्तविक ज्ञान को प्रकट करने के लिए सम्पूर्ण मतो एवं आगम तन्त्रों के सार का प्रतिपादन करना था जिसकी सहायता से वह हरेक बिषय से सरलता एवं सरसता से भिज्ञ हो सके![2] इन्होने आद्यगुरू शम्भु, श्रीकण्ठ, परमेश्वर को सम्बोधित किया है![3] सम्पूर्ण विषयों के सकल ज्ञान सम्पन्न होने के कारण ही इनके शिष्य मधुराजयोगिन ने इनके तत्कालीन आचार्यो में श्री कण्ठ के अवतार स्वरूप वताया![4] क्योंकि अल्पायु में ही रहस्यज्ञान के व्याख्याता की दृष्टि से इन्होने महत्वपूर्ण कार्य किया! काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने भी अपने काव्य में इनको "अभिनवगुप्ता पादाचार्य" की उपाधि से सम्मानित एवं विभूषितत किया है! इनके समस्त शिष्यो में अति सुयोग्य, महाविद्वान और

1. विक्षिप्तभावपारिहारमतौ ...... मन्द्रः ...... स्थितिमस्य चक्रे! प्रवरपुर नामद्येये पुरे पूर्वे काश्मीरिका अभिनवगुप्तः! मलिन्यादिवाक्यवार्त्तिकम् ...... सचिक्षयकर्णमन्द्राभ्यां चोदितोऽहं (मा० वि० वा० मं० श्लो०)
2. तस्य मे सर्व शिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता इत्यादि दृशासर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं अस्य ग्रन्यस्यापि निखिलशास्त्रान्तर सारसंग्रहाभिप्रायत्वंदर्शयति! - (त० आ०, आह०। पृ० 24)
3. जयत्यनर्धमाहिमा विपाशितपशुवज्रः! श्रीमानाद्यगुरू शम्भुः श्रीकण्ठः परमेश्वरः (परा० त्रि० वि० श्लो० 4)
4. श्रीमानभिनवगुप्ताचर्य श्रीकण्ठनाथ एवेति! प्रतिपाद्यतामितश्या ...... भवेदिव्यम्!! (गु० परा० श्लो० 23)

सम्पूर्णदर्शन ज्ञानी होने का श्रेय एवं योग्यता क्षेमराज में ही थी! आचार्य क्षेमराज भी शिवभक्त थे तथा उनमें भी अपने गुरूसम ही गुण थे![2] सहिव्य एवं प्रतिमिज्ञाशास्त्र में आचार्य क्षेमराज अभिनवगुप्त को अपने गुरू ही स्वीकार नहीं करते, वरन कवित्व प्राप्ति स्रोंत भी मानते हैं![3] अपने अनुज भ्राता मनोरथगुप्त को अनुगृहीत करने हेतु अभिनवगुप्त जब परमसत्ता में तल्लीन हुए उस समय कुछेको ने इनको अपना गुरू स्वीकार करना अपना अहो सौभाग्य समझा![4] इनके शिष्यों में इनके चाचा के भाई क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रक एवं पदमगुप्त इत्यादि सम्मलित थे! वे परम शिव के भक्त थे और धन का महत्व नहीं देते थे![5] इन शिष्यों के अतिरिक्त इनकी एक शिष्या इनकी वहन अम्बा भी थी, जिसका विवाह कर्ण से हुआ था! अम्वा के लिए अभिनवगुप्त केवल एक भाई ही नहीं अपितु गुरू के समान थे जिनको वह शिव सम सम्मानित करती थी![6]

1. यो मेलने क्कचन देशिकयोगिनीनाम अद्य ...... गुरूक्रमौद्यः! त्वययेव ...... इत्युपलालितोऽमूत, तस्मै नमोऽभिनवगुप्तगुरूतमाय!! - (गु० ना० परा० श्लो० 07)
2. कृतिस्तत्रभवन्महामाहेशवराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोयजीवनः श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्थस्य!! (प्र० ह० पृ० 144)
3. (क) श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात साहिव्यं वोधधरिद्येः! आचार्यशिखरमणेर्विधा विवृतिकारिणः!! (बृहृद०, म० उप०, श्लो० 37)

   (ख) एतां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृवकां जपेत् क्षेमेन्द्र स लभते भव्योऽभिनववाभवम् (कवि० क० आ०)
4. सोऽनुग्रहीतुमय शाम्भवशक्तिमाजं स्वभ्रात्तरं निखिलाशास्त्रविमर्श पूर्णम्!
   यावन्मनः ...... मनोरथाख्यं तावज्जनः कतिपयस्तुमुपाससाद्!! (त० आ० आह० 37 श्लो० 64)
5. अन्ये पितृव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनव चक्रकपदमगुप्ताः ये संपदं ...... भावयन्तः (तदेव श्लो० 67)
6. अम्बामिधाना किल सा गुरूतं स्वभ्रातरं शम्भुद्रशाभ्यपश्यत्! भाविप्रभावोज्जलभव्यबुद्धिः ...... न बन्धुबुदया!! (तदेव, श्लो० 59)

3. द्रष्टव्य, अभि० मा० पृ० 231

4. तदनन्तरमेव कामरूपानधिगव्यामिनवोपशव्दगुप्तम्! अजयत् किल शाक्त भाष्यकांर स च मग्नो मनसेदमालुलोचे!! (दि वि०, 15 - 158)

स्थितिकाल

काश्मीरिक अद्वैत शैवाचार्यो में पशुपतिभक्त अभिनवगुप्त अत्यधिक सुप्रसिद्ध तथा महा विद्वान के रूप में उपाधि उपलब्ध कर चुके है! वह अपनी वहुमुखी प्रतिभा हेतु दार्शनिक रूप में ही नहीं, अपितु, साहित्यकार के रूप में भी ख्यातियुक्त लोकप्रचालित है! अन्य विद्वानों के समान यदि इनके स्थितिकाल के विषय में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध होता है, फिर भी इनके पूर्ववर्ती आचार्यो के जीवन समय के वहिः साक्ष्य एवं उनकी कृतियों मे प्राप्त अंतः साक्ष्य की सहायता से कम से कम यथार्यतः के समीप तो पहुँच सकते हैं!

वहिः साक्ष्य

प्रसिद्ध दार्शनिक शैवाचार्य अभिनवगुप्त के गुरूजनो में से गुरूलक्ष्मणगुप्त एवं भटटेन्दुराज दो अलग-अलग परम्पराओ से सम्बन्ध रखते हैं![1] भटटेन्दुराज मुकुलभटट के शिष्य थे, जिनके असीम अनुग्रह से इनको काव्यालङ्कारसार की लघुकाय विवृति लिखने का श्रेष्ट श्रेय उपलब्ध हुआ[2]! अभिद्यातृत्ति रीति सम्प्रदाय के प्रणेता वामनाचार्य ने काव्यप्रकाश की वालवोधिनी नामक

1. (क) तद्दृएिटसंसृतिच्छेदिप्रत्यभिज्ञोपदेशिनः! श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजते वचः! (मा० वि० वा० श्लो० 2)

(ख) श्री सिद्धिचेलचरणाब्जपरांगपूतभट्टेन्दुराजगतिसंस्कृतबुद्धिलेशः! वाक्यप्रमाण पद्वेदिगुरूः प्रबन्धरोवारसोव्यरचयद्ध्वनिवस्तु वृत्तिम्!! - (ध्व० आ० अ० 304)

2. श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमकुलात कर्तिवल्यालबालात्! काव्यालङ्कारसारेलधुविवृतिमधात् ..... श्रीन्दुराजः!! (का० अ० सा० श्लो० 86)

टीका में अभिनवगुप्त नाम का रहस्य इस प्रकार दर्शाया है जिसका अर्थ "अभिनव गुप्तपाद नवीन ———— । शिशु । सर्प" ——— व्यक्त किया है, इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से वशीभूत होकर इनके द्वारा दिया गया![2] भरतमुनि के भरतनाट्यम में अभिनवगुप्त को शेषावतार की उपाधि से विभूषित किया गया है![3] माध्वाचार्य "शङ्करदिग्विजय" में कामरूप देश निवासी (आधुनिक आसाम) कां उल्लेख करते है तथा जिसका अभिनवगुप्त ने वेदान्त सूत्रों पर शाक्त भाष्यदिया था, जिसको शास्त्रार्थ में शङ्कर (788 - 820 ई० पू०) ने विजित किया था![4] किन्तु यह कथन पूर्णतया असत्य प्रतीत होता है क्योकि एक तो काश्मीरक अद्वैत शैवी अभिनवगुप्त से पृथक है और द्वितीय उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि शङ्करार्चय और अभिनवगुप्त (अद्वैत शैवी) के काल का वहुत अन्तर है! इन लोक सम्मानित, महामहेश्वरभक्त, अभिनवगुप्त की जीवन के अन्त के विषय में एक कथा प्रचालित है! वह काश्मीर की प्रथानुसार एकधा शिवधामगमनकाल में अपने 1200 शिष्यो के साथ भैरव नामक कन्दरा में, श्रीनगर और गुलमर्ग के मध्यरत है, प्रवेश कर गए तत्पश्चात उन्होने उस गुफा से वाहर प्रस्थान नहीं किया! यह कन्दरा आज भी काश्मीर में 'भैरव नदी' या भैरव गांव के समीप स्थित मिलती है! इस तरह समाधि में लीन हो कर उनका शिष्यसमूह के साथ शिवमय हो जाना ही आभासित होता है! जो स्वंय में एक सम्पूर्ण सिद्ध मुमुक्षु की सुफल भक्ति, साधना एवं तपस्या का द्योतक है!

---

1. लोके प्रमदादिभिः ...... कव्ये नाटयेचतैरेव ...... श्रृङ्गारादिकोरसः! ...... विलक्षणलोकोतरस्वसवेदनगोचरः ...... श्रीमदाचार्यमिनवगुप्तपादाः (का० प्र०, च०, उ० पृ० 129, 135)
2. इदमत्र रहस्यं पुरा किल ...... श्रीवामदेवतावत्तारो (मम्मट) गूढ तन्नाम "अभिनवगोपानसीगुप्तपाद" इतिवेदेग्थ्यमखेनाभिष्यनक्ति!! - (का० प्र० बा० बो० टी० पृ० 95)

मातृका के लेखक भट्टूकल्लट सिद्ध भट्टूकल्लट के पुत्र थे![1] अभिनवगुप्त द्वितीय परम्परा में लक्ष्मणगुप्त के शिष्य थे![2] लक्ष्मणगुप्त के गुरू उत्पलदेव तथा उत्पदेव के गुरू सोमानन्द थे!

सोमानन्द	-	भट्टूटकल्लट
उत्पलदेव	-	भट्टूटमुकुल
लक्ष्मणगुप्त	-	भट्टूटेन्देराज
अभिनवगुप्त	-	अभिनवगुप्त

उपयुक्त साारिणि से सिद्ध होता है कि सोमानन्द और भट्टूटकल्लट प्राय समकालीन थे! कल्हणकृत राजतरङ्गिणी मे कथित भट्टूटकल्लट राजा अवत्तिवर्मण के साम्राज्य काल में उच्च कोटि के कवि एवं विद्वान के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे![3] अवन्तिवर्मण का राज्यकाल 855/6 - 883/4 ई० पू० निश्चित किया गया है! इससे यही सिद्ध होता है कि भट्टूटकल्लट निश्चय ही अविन्तवर्मण के राज्यकाल से 25-30 वर्ष पूर्व हुये होगें तथा तत्काल समस्त विषयों के ज्ञान की. अवस्थाओं को उतीर्ण करके परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुके होगे! इसी कारणवश अवंन्तिवमर्ण के साम्राज्य समय में वे परम प्रसिद्ध हो गए! इन तथ्य कथनों के आधार पर भट्टूटकल्लट का स्थितिकाल. 825 ई० से 925 ई० के लगभग प्रतीत होता है! भारतीय परम्परा के अनुरूप गुरू शिष्य परम्परा में कम से कम 25 वर्ष का अन्तर मानने से अभिनवगुप्त का काल कुछ इस प्रकार निश्चत किया जा सकता है

---

1. भट्टूटकल्लटपुत्रेण मुकुलेननिरूपिता! सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका (अभि० वृ० मा० 15)
2. श्रीशास्त्रकृद्धटित्तलक्ष्मणगुप्तपादसत्योपदर्शितशिवाद्वयवादवृप्तः!! - (ई० प्र० वि० वि० भा० 3 पृ० 406)
3. अनुग्रहाय लोकानां भट्टूटश्रीकल्लटादयः! अवन्तिवर्मणः काले सिद्धाः भुवमवातरन्!!- (राज० तं०, आ० 5 श्लो० 66)

सोमानन्द	-	825 - 925 ई० पू०	भट्टकल्लट
उत्पलदेव	-	850 - 950 ई० पू०	भट्टमुकल
लक्ष्मणगुप्त	-	875 - 975 ई० पू०	भट्टेन्द्रराज
अभिनवगुप्त	-	900 - 1015 ई० पू०	अभिनवगुप्त

इस प्रकार अभिनवगुप्त का जीवनकाल, प्रारम्भिक का 800 ई पू के समीप माना जाता है!

अन्तः साक्ष्य

आचार्य अभिनवगुप्त की रचनाओं में प्राप्त काल निर्देश अनुरूप इस प्रकार अनुमानित किया जा सकता है:-

(क) अभिनव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शनी इसका रचनाकाल ज्योतिषीय परम्परा अनुसार दिया है जिसे अन्तय युगांश कलियुग संवत्सर तिथि राशि, जलधि आदि संकेत प्राप्त होते हैं![1] इसके जो नियमानुसार 4115 बनता है![2] साथ ही निःसन्देह रूप में उस समय चल रहा लौकिक सवंत्सर 10 वर्षित किया है! लौकिक सवंत को काश्मीर का प्रसिद्ध सप्तर्षि संवत्सर कहते हैं! संवत्सर विशेषज्ञों का मत है कि सप्तर्षि संवत् कालसंवत् के 25 वर्ष पश्चात प्रारम्भ हुआ था अतः उपर्युक्त नियमों के अनुसार उस समय :-

सप्तार्षि 'संवत् = कलिसंक्त - 25

= 4115 - 25 - 4090 वनता है

1. इति नवत्तितमेऽस्मिन्वतसरेऽन्त्ये युगाशे, तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने! (ई० प्र० वि० 4/4 पृ० 204)
2. अङ्कानां वामतो मति - तिथि शाशि जलाधि

   1514 = 4115

इससे अभिज्ञात होता है कि सप्तर्षि संवत् 4090 को ही आचार्य ने सक्षिप्त रूप में केवल लिखा है! नियमानुरूप कालसवत् से 3044 कम करने से विक्रमीसंवत् बनता है :-

बिक्रमीसंवत = कलिसंवत - 3044

= 4115 - 3044 = 1071 विक्रमीसंवत्

ऐसे ही विक्रमी संवत से 57 कम करने से ई संवत् वनता है:

ईस्वी संवत् = 1071 - 57 = 1014

(ख) क्रम स्तोत्र की रचना का समय माधशीर्ष मास की कृष्णपक्ष की नवीं तिथि और सप्तर्षि संवत्सर 66 दिया है, जो ज्योतिषशास्त्र के अनुसार इस प्रकार है :-

ईसवी संवत = सप्तर्षिसंवत - 3076

= 4066 - 3076 = 990 मिलता है! [1]

(ग) इसी तरह भैरवस्तोत्र के अन्त में इसका रचनाकाल पौष मास की कृष्णपक्ष की दसवीं तिथि और सर्प्तीष संवत्सर वसु, रस संकेतित रूप से दिया है,[2] जो गणना करने से 68 वनता है! अतः अन्त नियमानुसार :-

ईस्वी संवत = सप्तर्षिसंवत् - 3076

= 4068 - 3076 = 992 वनता है!

---

1. षटषष्ठिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि! म्यानिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः!!(क्र० स्तो०, श्लो० 30)

2. वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत् - (भै० स्तो०, श्लो० 10)

अभिनवगुप्त ने "परात्रिंशिका" विवरण का परिचय देते हुए लिखा है कि इस कृति की सृष्टि इन्होने काश्मीर के उस काल के राजा यशस्कर, अनुज भ्राता मनोरथगुप्त, कर्ण और एक सज्जन पुरूष रामदेव इन शिष्यों के क्रमपूर्वक आग्रह के कारण की थी![1] राजा यशस्कर के राज्यकाल का समय 939-948 ई पू है! निश्चय से इस समय के मध्य में ही अभिनवगुप्त ने इनको रचा होगा!

उपयुक्त तथ्यो पर दृष्टिपात करने से यह निएकर्ष निकलता है कि अभिनवगुप्त ने "परात्रिशिका विवरण" को 939-948 इ पू लिखा क्योकि यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि यह उनकी प्रथम कृति नहीं थी! इससे पहले उन्होनें अवश्य ही अनेक रचनाएं लिखी! इस तरह ज्यादा से ज्यादा 9-10 वर्ष और कम मान ले तो 930 ई पू के निकटतम ही उनका लेखन कार्य प्रारम्भ किंया जाना वोधित है! जिससे यह तो पूर्णतया सिद्ध होता है कि उनका उत्पन्नकाल 900 ई पू के निकट रहा होगा! विद्वानों का कथन है कि उनके नाम पर 44 के आसपास कृतियां मिलती है! अतः यह विचार अनुचित न होगा कि "परात्रिशिका और क्रमस्तोत्र" की रचना के मध्य इन्होनें अनेक रचनाएँ रची होगीं! अभिनवगुप्त ने स्वंय कहा कि प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमशिनी उनकी अन्तिम रचना थी![2] जिसका लेखन 1014 ई पू हुआ! वे एक दो वर्ष यदि और जीवित रहे होगें तो निश्चय से 1015 ई० पू० का समय उनका शिवधाम गमनकाल का रहा होगा अतः यह स्वीकारना युक्ति सङ्गत ही होगा कि उनका स्थितिकाल 100 ई० पू० से 1015 ई० पू० का ही सिद्ध होता है!

---

1. कश्मीरेषु यशस्करस्य नृपतेरासीदमाब्याग्रणी प्राग्रयज्ञन्माद्विजः!
   तस्य ...... श्रीशौरिः शिशुचम्द्रचूड़चरणध्यानैकरत्नाकरः!! ....
   कर्णाभिधानो द्विजः! ...... भ्राता ममैव मनारथगुप्तबामा!
   ..... रामदेवाभिधानश्च ...... प्ररूढ़हदर्येन यन्मया रचितम्!
   शिवाप्रत्ये भूयात्!! - (परा० त्रि० वि० पृ० 279, 260)
2. लब्धवानुग्रहमीश्वरान्जिमहः समारसंद्वीपिनो देहेऽस्मिन्नरसिंहगुप्त धटिते ......
   श्रीमललक्ष्मणगुप्तदर्शितपथः श्रीप्रत्याभिज्ञाविद्यौ टीकार्थप्रविमार्शिनी ...... प्रशिष्यो गुरोः!!
   (ई० प्र० वि वि०, मं० श्लो० 2)

आचार्य योगराजं का परिचय

आचार्य योगराज प्रसिद्ध दाशर्निक, विद्वान क्षेमराज के शिष्य थें! इनके (योगराज) माता-पिता कौन थे इस बिषय में जानकारी उपलब्ध नहीं है! अन्य महान विभूतियों के जन्म विषयक वार्ता की भाति इनके जन्म को लेकर भी मतभेद है जिसके कारण इनका स्थितिकाल निर्धारित करने में कठिनाई सी उत्पन्न होती है! परन्तु योगरोज ने अपने जीवन वृत के विषय मे ग्रन्थ की पुष्पिका के अन्त में वताया है![1]

माता-पिता विहीन हो जाने के कारण आचार्य योगराज विरक्त हो गए! इनकी पत्नी एवं परिवार सम्बंधी जानकारी भी नहीं मिलती क्योंकि विरक्ति की भावना से ओतप्रोत होने कारण वे तपस्वी हो गए और विवाह संस्कार आदि के प्रति इनकी वुद्धि रिक्त हो गई! योगराजाचार्य द्वारा कृत रचनाओ का भी कोई विशेष उल्लेख उपलब्ध नही होता! परमार्थसार पर टीका ही शायद उनके द्धारा विरचित एक मात्र रचना प्राप्त होती है! इन्होने काश्मीर शैव दर्शन के विषय में परमार्थसार पर वितृति लिखी जिस "परमार्थसार" की रचना आचार्य अभिनवगुप्त ने की थी! इनके जीवन वृतान्त सम्बधी प्राप्त श्लोक से इनके स्थितिकाल का भी ज्ञान होता है जिसके अनुसार इनका स्थितिकाल द्वितीय शती ई पू का उत्तरार्ध है! इनके निवास स्थलं के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता लेकिन इतना ही ज्ञात होता है कि जब इन्होने अभिनवकृत "परमार्थसार" का टीकाकरण किया तो उस समय वे वितस्तापुरी नदी के आर पार एक सन्यासी के रूप मे जीवन यापन कर रहे थे! यह भी विधित होता है कि आचार्य योगराज कृत भाष्य पद्य में शुद्ध अद्वैतवाद दृष्टि-कोण से निरूपित किया है! वास्तव में हम यही कह सकते है कि योगराज जी ने इस परमार्थसार नामक ग्रंथ पर वृत्ति लिख कर सुकुमार वुद्धि वाले मुमुक्षुओं के प्रति उपकार पूर्ण रूप में किया है!

---

1. श्रीमतः क्षेमराजस्य सद्गुर्वाम्नाथशालिनः!
साक्षात्कृत महेशस्य तस्यान्तेवासिना मया!!
श्री विस्ततापुरीधाम्ना विरक्तेन तपस्विना!
विवृतियोगिनाम्नेयं पूर्णाद्वयमयी कृता!!

द्वितीय अध्याय

(क) अभिनवगुप्त विरचित कृतियों का परिचय

(ख) परमार्थसार पर रचित योगराज का भाष्य परिचय

अभिनवगुप्त रचित कृतियाँ

काश्मीरिक शैवाचार्यो में शिरोमणि अभिनवगुप्त प्रथमकोटि के शैव साधक और महान एवं सफल लेखक के रूप में विख्यात हैं! नाना परम्पराओ के अध्ययन, समस्त गुरूओ के प्रति सेवा भाव तथा स्व घोर साधना के द्वारा उन्हें जिस संवित् ज्ञान का स्वतः आभास हुआ उसी ज्ञान रूपी मशाल को अचिर एवं सदैव प्रज्जवलित वनाए रखने के लिए तथा अपने शिष्यों को सम्पूर्ण शास्त्र विज्ञ वनााने हेतु उन्होनें उसे लिपिवद्ध कर दिया! अभिनवगुप्त दर्शन के साथ-साथ काव्यमय तथा तन्त्र सम्बधित नाना कृतियों के रचयिता हैं! परन्तु इनमें से कुछ कृतियाँ तो उपलब्ध है लेकिन अन्य के विषय में जानकारी केवल सन्दर्मो में ही प्राप्त होती है! इनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है - बोधपञ्चदशिका, मालिनीविजयवार्तिक, परात्रिंशिका-विवरण, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, तन्त्रवटधानिका, ध्वन्यालोकलोचन, अभिनवभारती, भगवद्गीतार्थसंग्रह, परमार्थसार, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमशिनी, पर्यन्तपञ्चाशिका, घटकपर्रकुलकविवृति, क्रमस्तोत्र, देहस्थ, देवताचक्रस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, परमार्थद्वादशिका, परमार्थचर्चा, महोपदेशविंशतिकम्, अनुत्तराष्टिका, अनुभवनिवदेन, रहस्यपञ्चदशिका, तन्त्रोच्चाय, पुरूखोविचार, क्रमकेलि, शिवदृष्टयालोचन, पूर्वपञ्चिका स्तोत्र, पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, प्रकीर्णिकावि विवरण, प्रकरणविवरण, काव्यकौतुक विवरण, कथामुखतिलक, लाध्वीप्रक्रिया, भेदवादविदारण, देवीस्तोत्रविवरण, तत्त्वाध्वप्रकाशिका, शिवशाक्त्याविनाभावस्तोत्र, विम्बप्रतिबिम्बवाद आदि!

बोधपञ्चदशिका

वोधपञ्चदशिका की रचना के पांश्व में यह प्रयोजन कि अभिनवगुप्त अपने सुकुमारित शिष्यों को अद्वैत शैव दर्शन के सिद्धान्तों के सार को भलीभान्ति अवगत एवं वोधित करना चाहते थे![1] मात्र 15 श्लोको के अद्वैतशैव के सिद्धान्तो को इसमें निरूपित किया है! इसमें परमशिव को चिन्नमय रूप में दर्शाते हुए वताया है कि इस ज्ञान से परिच्छिन्न रूप को ही जड़ कहते हैं![2] इसका अभिप्राय यह है कि वेदान्तवादी जो अज्ञान को ज्ञान का अभावरूप मानते है, उसके विलोमित इन्होनें अज्ञान को ज्ञान का सीमित रूप माना न कि अभाव रूप!

मलिनीविजयवार्त्तिक

यह वार्तिक मलिनी विजयतन्त्र के आधार पर रचित है! जो मालिनी विजयोत्तरतन्त्र अथवा श्री-पूर्व-शास्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है! मलिनिविजय एक आगम या तन्त्रशास्त्र है जिसमें भैरव-भैरवी के संवादरूप कें माध्यम से शैवयोग के सिद्धान्त विस्तृत रूप में प्रतिपादित हैं! परन्तु वास्तव में सिद्धयोगीश्वरतन्त्र के सार को ही भैरव-भैरवी के सवांदरूप में निवद्ध किया है! इसके वार्त्तिक में अभिनवगुप्त ने तन्त्रशास्त्र के गूढ़ रहस्यों को अत्यन्त सरल-सुवोध शब्दाबली में प्रतिनिरूपित करके शैव शास्त्र पर प्रकाश डालते हुए महत्वपूर्ण कार्य किया है! इसमें इसके अतिरिक्त परावाक् के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में विकास, परमशिव के स्वरूप, उसकी शक्तियाँ, वन्ध-मोक्ष तथा उसके उपायों का विशेष रूप में उल्लेख प्राप्त होता है!

---

1. सुकुमारमतीन् शिष्यान् प्रवोधयितुमञ्जसा!
   इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः!!(बो० पं० द,० श्लो० 15)
2. परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किललक्षणम्!
   जड़ादिलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते!! (तदेव-श्लोग 8)

परात्रिंशिका विवरण

अभिनवगुप्त ने सोमानन्द के द्वारा लिखित विवृत्ति को और स्पष्ट रूप देने के लिए इस पर विवरण दिया! यह रचना कौल मत के सिद्धान्तों को सम्यकरूप से समझने के लिए अत्यन्त सहायक तथा अपूर्व है! इस आगम शास्त्र में भी भैरव-भैरवी के सवांद है! जिसमें इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियों की अधिष्ठात्री परात्रीशिका भव्य, मनोहर वर्णन भैरव-भैरवी के सवांद रूप में उपलब्ध होता है! अभिनव ने इसका लेखन केवल अपने प्रिय शिष्यों भन्द्र, कर्ण, रामदेव और अनुजं मनोरथ गुप्त की विनम्र विनती को स्वीकारने पर किया![1] इस शास्त्र का सम्वध कुलसम्प्रदाय से है!

तन्त्रालोक

यह कृति सर्वाधिक सुप्रसिद्ध और सम्पूर्ण विश्वकोप सम काश्मीर अद्वैत शेव दर्शन के तात्विक मूल्यों एवं सिद्धान्तो का अति विस्तार रूप से निरूपण करती है! इसमें प्रमुख रूप से परमसत्त का स्वरूप, छतीस तत्व, वन्ध-मोक्ष, शाम्भवादि उपाय इत्यादि के अतिरिक्त प्रतिभिज्ञा, क्रम एवं कौल मतो के विषय में भी विचार किया है! इसमे आहनिक की सख्या मात्र 37 है!

1. कश्मीरेषु यशस्करस्य नृपतेरासीदमात्याग्रणीः श्रीमानवल्लम ......!
श्री शौरिः शिशुचन्द्रचूडचरणध्यानैकरत्नाकरः!! .....
शङ्करध्यानार्चायपरिचिन्तनैकरसिकः कर्णाभिधानोद्विजः! भ्राता मभैव ...... मनोरथगुप्तनामा! शिवशास्त्रैकरसिकः पदवाक्य प्रमाणवित्! रामदेवाभिधानश्च भूषितोत्तमजन्मकः! एतत्प्रिय हितकरण प्ररूढ़हृत्दयेन यन्मयारच्रितम्! मार्गप्रदर्शनं तत्सर्वस्य शिवाप्तये भूयात!! (परा० त्रि० वि०, पृ० 279, 280)

कश्मीर शैव दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य एवं उपजीव्य शैवागमों की परम्परा का भी स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है!

तन्त्रासार

"तन्त्रालोक" अत्यन्त विस्तृत एवं विशाल विषय युक्त होने के कारण समस्त जनपद के लिए क्लिष्ट एवं सरलतापूर्वक न वोधित होने वाला था! अतः इसके मुख्य सार तत्व को स्पष्ट करने एवं ज्ञात करने हेतु इसके सरल शब्दो में सकंलित किया![1] इसका प्रमुख प्रयोजन लोककल्याण की भावना है, इसमें 22 आह्णिक है!

तन्त्रवटधाचिका

अभिनव के तन्त्रासार के भी सार रूप का वर्णन करने वाली रचना का नांम तन्त्रवटधानिका रखा! इसका वर्ण्य विषय तन्त्रालोक में सकंलित विषय के समान है लेकिन इसमें संक्षिप्त रूप में दिया है! इसमें मात्र 3 आह्णिक हैं जिन्हे अनुष्टुप श्लोकों के रूप में निबद्ध किया है![2]

---

1. विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः!
   ऋाजुक्चनविरचितमिदं तु तन्त्रसारं ततः श्रृणुत!! (त० सा० भा० श्लो० 2, पृ० 2)
2. एषाभिनवगुप्तेन रचिता तन्त्रवटधानिका!
   हृदयूमौयस्य रूढः स शिवकल्पमहीरूहः!!
   (त० व० ध० भा० 3, श्लो० 43)

ध्वन्यालोकलोचन

ध्वनि शास्त्र के प्रणेता आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन नामक टीका लिखी जो केवल लोचन के नाम से भी प्रसिद्ध है! यद्यपि यह भाष्य रचना है फिर भी अभिनवगुप्त ने रस तथा ध्वनि सम्बधी अपना मत स्थापित कर उसका प्रतिपादन किया है! साहित्य शास्त्र में जिसे अत्याधिक सराहा है! अभिनवगुप्त ने इसकी महता को दर्शाते हुए कहा भी है कि लोचनविहिन को चन्द्रप्रकाश से क्या प्रयोजन ठीक उसी प्रकार यह भाष्य कृति शास्त्रवोध के हेतु चक्षु का कार्य करती है! तथ्यों को उजागर करने में सहायता प्रदान करती है![1]

अभिनवभारती

भरतमुनि कृत नाटयशास्त्र पर अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती वृति रची यह नाट्यवेदविवृति के रूप में प्रचलित है! इसमें नाट्यकला विषयक सिद्धान्त को इन्होने स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किया है! इस विवृति की रचना में इनका प्रमुख उदेद्श्य भरतमुनि के रसपरक मत को सुव्यवस्थि करना ही था! इसमें इन्होने पूर्ववर्ती भाष्यकारो के कथनों के खण्डन के साथ-साथ दूसरों के न्याय सङ्गत मतों का समर्थन भी किया है! नाटयशास्त्र से सम्बधित तथ्यो को समझने के लिए यह अति महत्वपूर्ण कृति है!

1. किंलोचनं विनालोको भातिचन्द्रिकयापि हि!

   तेनाभिनवगुप्तोत्रलोचनोन्मीलनं व्यधात्!!

   (ध्व० आ० लो०, पृ० 233)

भगवद्गीतार्थसंग्रह

यह रचना भी आगम शास्त्र के अन्तर्गत रखी गई है! इसमें गीता का विशद् रूप न देकर सार रूप ही दिया है! गीता के उपदेशो को शैवी दृष्टि से निरूपित किया है! शैवाचार्यों ने श्रीकृष्ण को गुरू रूप में स्वीकार किया है!

परमार्थसार

यह रचना त्रिक् दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तो पर प्रकाश डानती है! सॉँख्य दर्शन की विशेषताओं का प्रतिपादन करने वाली शेषमुनि अथवा अनन्तनाथ की "आधरकारिका" का परिष्कृत रूप है! उसमें साँख्य मतो का 105 कारिकाओ में त्रिक् दर्शन के मतो से खण्डन किया है!

परमार्थसार के अतिरिक्त परमार्थसार संग्रह नामक रचना भी अभिनवगुप्त की कृति मानी जाती है! लेकिन यह परमार्थसार का कोई द्वितीय शीर्षक प्रतीत होता है! क्योकि प्रकाशित कृति में तो अभिनवगुप्त ने इसके लिए परमार्थसार शब्द का ही चयन एवं प्रयोग किया है![1] इसकी विवृति को योगराज ने परमार्थ-सारसङ्ग्रह अभिधानित किया है![2]

---

1. इति श्रीमहामहेश्वराचार्याभिनवगुप्ताविरचितः परमार्थ सारः (प० सा० प्र०)
2. सम्पूर्णेयमू परमार्थसारसङ्ग्रहविवृतिः कृतिश्च तत्र भवत परममाहेश्वर श्रीराजानक योगराजस्य (प० सा० वि० प्र०)

ईश्वरप्रव्यभिज्ञाविमर्शिनी

इसमें प्रतिभिज्ञा दर्शन सम्बधी तत्वो को प्रदर्शित किया है यह कृति उत्पलदेव की प्रसिद्ध रचना ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका के आधार पर विरचित है जिसको "लघुविमर्शिनी" या चतुर्यसहस्री भी कहा जाता है!

ईश्वरप्रव्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी

ईश्वरप्रतिभिज्ञावृति एवं विवृत्ति पर की गई विशद् व्याख्या को ही विवृतिविमर्शिनी के रूप में प्रदर्शित किया है! यह बृहती विमर्शिनी नाम से भी जानी जाती है, क्योकि इसमें 1800 श्लोको के समान शब्दों में प्रतिभिज्ञादर्शन के मौलिक सिद्वान्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है! अभिनव के कथनानुसार प्रतिभिज्ञाशास्त्र का ज्ञान उनके गुरू द्वारा प्रकाशित किया गया था जिनकी प्ररेण से इन्होने इस पर टीकायें लिखी![1]

पर्यन्तपञ्चाशिका

अभिनव की इस कृति की विशेषता एवं महानता को प्रकट करते हुए उनके शिष्य गधुराजयोगिन ने अपनी रचना गुरूनाथ परामर्श में लिखा है करूणयुक्त तेजस्वी एवं महानगुरू अभिनवगुप्त ने सामान्य लोगों को भी अद्वैत मत में लगाने हेतु पर्यन्त परम सम्पदा का उपपादन करने वाले कल्यतरू की लीरूप पञ्चाशिका को सृजित किया था![2] इसके 53 श्लोक

1. श्री मल्लक्ष्मणगुप्तप्रदर्शितपथः श्रीप्रत्यभिज्ञाविधौ! टीकार्थ प्रविमार्शिनी रचयते वृत्तिं प्रशिष्योगुरोः!! - (ई० प्र० वि० वि०, श्लो० 2)
2. पर्यन्तसपदुणपादनकल्पवल्लीपञ्चाशिका परमकारूणिकेनयेन!
   प्रोक्तानिजाद्वयनये जनतां नियोक्तुं तस्मै नमोऽभिनवगुप्त गुरूत्तमाय!! (गु० ना० परा०, श्लो० 8)

हैं जो अनुष्टुप छन्द में लिखे हैं, जिनमें से प्रथम में भगवती की स्तुति है! इसमें शैवदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, जिनमें मुक्ष्य रूप से षडाध्वा, सात प्रमाताओं, दशइन्द्रियों तथा तन्मात्राओं और वाक् के चारो रूपो का उल्लेख उपलब्ध होता है इसके अतिरिक्त भैरव की परा अवस्थ का, जिसमें इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियाँ समान रूप में निवास करती हैं!

घटकपर्रकुलविवृति

अभिनवगुप्त मतानुसार इसकी रचना महाकवि कालिदास ने की[1] इसमें चित्रकाव्य तथा ध्वनिकाव्य को सुन्दर रूप में समन्वित कर दिखया है! प्रत्येक दृष्टि से दोषरहित यमक से सुव्यवस्थित यह ललित काव्य कालि० की अपूर्व कृति है! अभिनवगुप्त के अनुसार उन्होंने अपने कवीन्द्रएवं परम विद्वान गुरू इन्दुराज की प्रेरण से इस काव्य पर विवृति की![2]

---

1. किञ्च अत्रकर्ता महाकवि कालिदास इति अनुश्रुतमस्माभिः न चास्य काव्ये तृणमात्रमपि कलङ्कपात्रमुत्प्रेक्षितबन्तो मनोरथेऽपि सुप्तेऽपि सहृदयः!! (घ० क० वि०, श्लो० 20)

2. कवीन्द्रोरिन्दुराजस्य ते सच्चितविकासकाः!

वोधांशावो विगाहन्ता भूर्भुवः स्वस्त्रयीमपि!!

तत्परामर्शधवलमनः कोकनदो मनाक्! काव्येऽभिनवगुप्ता ख्यो विवृत्तिं समरीरचत्!! (तदेव

क्रमस्तोत्र

इस स्तोत्र में भगवान शिव की आराधना के साथ इसके रचनाकाल का सप्रमाण वर्णन है! यह 20 श्लोकों में निवद्ध है, जिनमें आत्म ईश्वर स्वरूप पशुपति की शंसा के साथ उनकी शक्तियों के ऐश्वर्य का निरूपण हुआ है! वह परमशिव अपनी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों में उल्लास करते हुए जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार क्रम को चलाते हुए स्वंय अक्रम रूप में रहते हैं इस स्तोत्र में शिव शक्तियों का अति विस्तार रूप से विवरण प्राप्त होता है!

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र

महामहेश्वरावाचार्य् अभिनवगुप्त की 15 श्लोको में तैयार यह लघुकाय लेकिन, सारगर्भित स्तोत्र कृति है! इन्होने अण्ड (शरीर) में ब्राहमण्ड (समस्त विश्व प्रपञ्च) को अत्यन्त सुन्दर पद्धति से एकत्र किया है! देह के विभिन्न अङ्गो एवं इन्द्रियों में अलग-अलग देवताओं की कल्पना करके आत्मतत्व की सारसा को व्यक्त किया है अतः इस स्तोत्र के माध्सम से शैवदर्शन के दृष्टिकोण से इसका सार प्रदर्शित किया है!

---

1. मयाऽभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः!!
2. इति च अभिनवगुप्तपादाचार्यकृतं क्रमस्तोत्रं सम्पूर्णम्!! (क्र० स्तो०, 30)

भैरवस्तवः

यह एक शंसापरक रचना है! जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं सहांर करने वाले आत्म परमेश्वर की इसमें स्तुति हुई है!

परमार्थद्वादशिका

यह रचना अभिनवगुप्त की सक्षिप्त कृतियों में से एक है! इसके 12 श्लोकों में परमसत्त को अति मनोहर ढगं से प्रस्तुत किया है!

परमार्थचर्चा

यह स्तोत्र कुल 8 श्लोको में निबद्ध है उसमें परमार्थ अर्थात आत्म ईश्वर की महत्ता का निरूपण मिलता है! वह परमशिव सम्पूर्ण लोक का ज्योति रूप है और सविद्घन तथा अपूर्व है! उनसे पृथक किसी का अस्तित्व नहीं उनकी विचित्र शक्तियों को प्रभाव से ग्राहूक-ग्राहय रूप में अनेकत्व अवभासित होता है![1]

महोपदेशविशंतिकम्

इसके मात्र 20 श्लोक है! यह कृति आत्मा के स्वरूप को अत्यन्त ललित प्रकारेण स्पष्ट करती है इसमें जगत् को आत्मा से अभिन्न स्वीकारा है! इसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार के साधक के रूप में अनुपायमयी परा पूजा का अपूर्व एवं अद्वितीय विवरण उपलब्ध होता है!

---

1. इत्यं स्वगंविद्घन एक एवं शिवः रूप विश्वस्य परः प्रकाशः
तत्रापि भाव्येत विचित्रशक्तौ ग्राहयगहीतप्रविभागभेदः!! (प० च०, श्लो० 3)

<u>तन्त्रोच्चय</u>

यह रचना तन्त्रालोक पर लिखा वार्तिक है, अभिनव का कृतित्व इसके मगंलचरण और पुष्पिका में उपलब्द है! तन्त्रालोक पर आधारित यह कृति तन्त्रासार की अपेक्षा लघुकाय है! परन्तु तन्त्रवटधानिका से कश्चित् वृहद् है!

<u>क्रमकेलि</u>

क्रमस्तोत्र पर जो भाष्य लिखा है वह ही क्रमकेलि के नाम से वोधित किया जाता है! जो आचार्य अभिनव की लुप्त हुई कृतियों में एक है! इसका परिचय परत्रिंशिका विवरण में दिया गये उद्धरण से मिलता है![1]

<u>शिवदृष्ट्यालोचन</u>

यह रचना भी अभिनवगुप्त की लुप्त कृतियों में से एक है! यह सोमानन्द की शिवदृष्टि पर लिखित भाष्य है इसका प्रमाण परात्रिंशिका विवरण में दिये गये उद्धरण से प्राप्त होता है!

---

1. उक्तं च क्रमस्तोत्रे-
सर्वार्थवर्ष णसयमस्य यमस्य यन्तुर्जगतोयमाय! वपुर्महाग्रास विलाससक्तं संकर्षयन्ती प्रणमामिकालीम् व्याख्यातं चैतन्मया टीकायां क्रमकेलौ विस्तरतः!! - (पर० त्रि० वि०, पृ० 236)
2. यत्रोक्तं मयैव शिवपृण्टयालोचने - प्रंषोऽपि स भवेद्यस्य सक्तता नाम विधते!! - (तदेव, पृ० 116)

<u>अनुत्तराष्टिका</u>

अनुत्तराष्टिका कृति भी लघु रचनायों का ही एक रूप है! यहाँ पर "अनुत्तर" शब्द परमसत्ता का द्योतक है, जो जगत् से भिन्न नहीं! इसमें महेश्वर सिद्धान्तों को संक्षेप रूप में उजागर किया है!

<u>अनुभवनिवेदन</u>

अभिनवगुप्त की यह कृति संक्षिप्त कृतियों का नमूना है इसमे आन्तमिक आभासो का ललितमय वर्णन मिलता है!

<u>रहस्यपञ्चदशिका</u>

इस रहस्यमयी रचना में अभिनवगुप्त ने भगवती संविद्रूपा सरस्वती की स्तुति के रूप में शेव सिद्धान्त के रहस्यों का सुन्दर वर्णन किया है! "अ" से "क्ष" पर्यन्त समस्त वर्णों को भगवती परावाक् अथवा परामातृका के अङ्ग विशेष के रूप में प्रतिपादित किया है! अभिनवगुप्त मतानुसार साधक की इस प्रकार समस्त विश्व (वाच्द, वाचक) के प्रति अभेद्य बुद्धि जाग्रत होने पर वह जीवनमुक्त ही हो जाता है इसमें मात्र 15 श्लोक है![1]

---

1. पूवसिद्धान गुरून देवान् देवीं नत्वाथ योगिनः!

   इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पंचदशोदिताः!! - (रह० पं० श्लो० 37)

पुर्वपञ्चिा स्तोत्र

यह कृति अभिनवगुप्त द्वारा लिखित है परन्तु वर्तमान में अप्राप्य में गिनी जाती है! यह श्रीपूर्णशास्त्र पर अधिकारिक एवं वृहद वार्तिक थी, यह हमें मालिनीविजयवार्त्तिक के उद्धरण से ज्ञात होता है! अतएव यह त्रिक् शास्त्र पर एक प्रामाणिक रचना रही होगी!

पदार्थप्रवेश निर्णय टीका

इसके विषय में भी ज्ञान हमें उद्धरण से ही प्राप्त होता है! इसमें अनुसन्धान, स्मृति, अनुभव इत्यादि पदार्थो एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यो का सर्वाङ्गीण विश्लेषण किया प्रतीत होता है

प्रकीर्णिक विवरण

इसकी गणना भी लुप्त कृतियों में की गई है जिसका ज्ञान अद्धरण से ही होता है! सम्भवतया यह व्याकरण दर्शन से सम्बन्धित होगी!

---

1. प्रवरदुरानामधेयेपुरे काश्कीरिको-अभिनवगुप्तः! मालिन्यादिमवाक्ये वार्त्तिकमेतद्रचयति स्म!! - (मा० वि० वा० 135)
2. अनुसन्धायाः स्मृतिभेदे तस्याश्चानुभवोपजीवित्वे अनुभवाभावात मयैताद्विचरितं पदार्थप्रवेशनिर्णयटीकायाम्!! - (परा० त्रि० वि० पृ० 162)
3. (क) इत्यं जडेव सबन्धे न मुख्या व्यर्थ संगतिः! आस्तामन्यत्र मया (तं० आ० आह० 10, श्लो० 44)

   (ख) अन्यत्रेति प्रकीर्णविवरणादो!! (तदेव, पृ० 33)

प्रकरण विवरण

यह स्तोत्रात्मक कृति है जो प्रकरण स्तोत्र पर लिखा गया विबरण है! इसका पता भी उद्धरण से ही![1]

काव्यकौतुकविवरण

यह विवरण इन्होने अपने गुरू भट्टतोत के कावय-शास्त्रीय रचना कव्यकौतुक पर लिख है! इसके विषय में जानकारी ध्वन्यालोकलोचन में दिये गये उद्धरण से मिलती है![2]

कथामुखतिलकम्

यह एक अनुपलब्ध रचना है जो उद्धरण से ही ज्ञात होती है! सम्भवतया इसका विषय षोडश पदार्थो के निरूपण से शैवमत का प्रस्थापन रहा है![3]

लाध्वीप्रक्रिया

यह कृति स्तोत्ररूप में लिखित है इसको दार्शनिक तथ्यो का शैवी दृष्दिकोण से सुन्दर

---

1. एषः च अर्थः तत्र-तत्र मद्विरचिते विवरणे प्रकरणस्तोत्रादौ वितव्य वीक्ष्यः! - (त० सा० पृ० 31)
2. स चायमू अस्मदुपाध्याय भट्टतोतेनकाव्यकौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्तः इति अलमू बदना! (ध्व० लो० श्लो०)
3. ग्रन्थः कथाभुवमहातिल्काभिधानः न्यायोक्त षोडशपदार्थ निरूपणाभिः! यो वादिनां व्यरचयद्विजयायवादे तस्मै नमोऽभिनवगुप्तगुरूत्तमाय!! - (गु० ना० परा० श्लो० 9)

प्रतिपादन किया गया है! इसके विषयू में ज्ञान उद्धरण से ही मिलता है![1]

भेवाद विदरण

यह रचना भी अप्राप्य है! इसका वोध भी उद्धरण से ही होता है! इसके अभिधान से ही वोधित हो जाता है कि रचना का मूल उद्धेश्य द्वैतभाव का खडंन कर अद्वैतभाव का स्थापन है![2]

देवीस्तोत्रविवरण

यह आनन्दवर्धन विरचित देवीस्तोत्र पर अद्वैत-शैवी दृष्टिकोण से लिखा गया विवरण है! इसका पता भी इनकी रचना भगवद्‌गीतार्थ संग्रह से चलता है![3]

तत्वाध्वप्रकाशिका

इस कृति का पता जयरथ के तन्त्रोक पर लिखे गये भाष्य (विवेक) से चलता है! यह रचना भी लुप्त कृतियों की श्रेणी में आती है! इसका विषय "तत्वाध्वा" को प्रदर्शित करना है![4]

---

1. यथाचमयैवलध्व्यां प्रक्रियाथामुक्ताम्‌ नं योग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुरस्त्वत्तो विभाव्यते! एष एवहि भोगे यत्तादात्म्यं भोक्तृभोग योः!! (भ० गी० स० - श्लो० 28)
2. मयैव भेदवादविदारणे निर्णीतः! - (ई० प्र० वि० पृ० 158)
3. देवीस्तोत्रविवरणे निर्णातिः! (भ० गी० सं० 6/30)
4. ग्रन्थकृता च तत्वाध्वपप्रकाशनादौ तत्र-तत्र तन्मतावलम्बनमेव कृतम्‌!! (तं० आ० भा० 12 पृ० 19)

शिवशक्त्याविनाभावस्तोत्र

यह स्तोत्ररूप में दार्शनिक कृति है! इसको लेखन का प्रमुख प्रयोजन शिव और शक्ति के अपृथक्भाव एवं सामरस्य का प्रतिपादन करना है! इसका उद्धरण हमें भगवद्गीतार्थसङ्ग्रह में उपलब्ण होता है!

बिम्बप्रतिबिम्बवाद

तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक के रूपान्तरित बिम्बप्रतिबिम्बवाद को शैवदृष्टि से प्रतिपादित किया है!

इसके अतिरिक्त पूर्वभूतिपञ्चिका स्तोत्र, पुरूरवो विचार योगवसिष्ठ, अनुत्तरशतक, प्रकरणस्तोत्र, अनुत्तरतत्वविभर्किनी, स्पन्द आदि भी इनकी कृतियाँ सम्भावित की गई है! निश्चसपूर्वक इन्होनें इन रचनाओं को छोड़कर और भी लेखनकार्य किया है परन्तु वह काल से ग्रसित हो गया होगा! लेकिन यह वात तो सर्वमान्य एवं संदिग्धता से रहित है कि वह एक अपूर्व प्रतिभाशली एवं उच्चकोटि के विद्वान थे! उनकी रचनाएँ शैवदर्शन के अतिरिक्त आगम और साहित्य क्षेत्र में भी आगामी पीढ़ियो के कल्याण हेतु आधार स्तम्भ है! वास्तव में वहुमुखी विद्वता एवं सर्वश्रेष्ठ लेखन के अधिकारी हैं!

परमार्थसार पर रचित योगराज का भाष्य परिचय

परमार्थसार ग्रन्थ की टीका आचार्य योगराज ने की है! वे अभिनवगुप्त के शिष्य न होकर क्षेमराज के शिष्य थे! क्षेमराज जी अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य माने जाते थे! योगराज जी के इन श्लोकों से ज्ञान होता है कि वे शहर में ही वितस्ता नदी के आर-पार कहीं रहते थे! उन्होने इस परमार्थसार नामक ग्रन्थ की कारिकाओं का सस्कृत गद्य में निर्णय विशद् रूप में किया है, जिस के फलस्वरूप ग्रन्थकार के तात्विक भावों का प्रदर्शन हुआ है! विवृतिकार योगराज ने अपनी टीका में सर्वाधिक उद्धरण गीता एवं उपनिषद से दिये हैं! शैव-दर्शन के ग्रन्थों से उद्धरण देना तो नितान्त स्वाभाविक है साथ ही उन्होने बौद्ध ब्रह्म वादी वैशेषिक आदि के मतों का भी उल्लेख किया है! इस तरह उनकी टीका में एक ओर शैवदर्शन के अभिमत को स्पष्ट और पुष्ट करना अभीष्ट है तो दूसरी ओर विभिन्न दार्शनिकों के मतों का

खण्ड़न-मण्डन करते हुए श्रुति उपनिषद तथा गीता से परमार्थसार का समन्वय प्रधान लक्ष्य है! वस्तुतः स्वयं परमार्थसार भी उपनिषदें में प्रवर्तित एवं गीता में पल्लावित जीवनदृष्टि को अपने में ओत-प्रोत किये हुए है! ज्ञान द्वरा कर्मफल के विनाश तथा योगी आत्मज्ञ या जीवनमुक्त की चर्चा के प्रंसग गीता से अनेकत्र मिलते हैं! शिव के स्वरूप के निरूपण में तथा ज्ञान, अज्ञान की चर्चा में उपनिषद की चिंतन धारा स्पपटतः दिखाई देती है! वस्तुतः व्रत्र को मोहः, कः शोकः इत्यादि शब्द भी परमार्थसार में प्रतिध्वनित हैं! जैसा कि विदित है अभिनवगुप्त ने गीता पर अपनी टीका भी लिखी थी जोकि प्रकाशित है! तन्त्र या शेव साधना का मार्ग एवं दृष्टि श्रुति या भक्ति के मार्ग से तात्पर्यतः भिन्न नहीं है, यही अभिप्राय परमार्थसार के अध्ययन से और उसकी टीका के अनुसन्धान से प्रतिफलित होता है! टीका में उद्धत प्रमाण वाक्यों की सूची प्रतीक रूप में परिशिष्ट में दी हुई है! ग्रन्थों तथा आचार्यों का अकारादिक्रम से पृष्ठसहित

उल्लेख किया गया है! ग्रन्थ या आचार्य के अन्त में कोषठक के अन्तर्गत दी हुई संख्या उस पुस्तक के अध्यायादि का उल्लेख करती है:-

अजड़प्रभातृसिद्धि 58, अवधूतसिद्धपाद 16, आगम 27 उपनिषद 1953, श्रीकल्लट 64 कक्ष्यास्तोत्र 72, श्रीकालिकाक्रम 63, श्रीकुल 116, कुलरत्नमालिक 104, गीता (2-20), 10, 42, (2-52)62, (4-37)75, (18-17)90, (9-5)103, (5-15), (5-16)109, (8-6), (10-10)112, (14-14)114, (3-33)115, (2-40), (6-37), (6-45)120! छान्दोग्योपनिषद (6-2-1)64, तन्त्रसार 51, दिवाकरवत्स 56, निर्वाणयोगात्तर 103, निशाटन 104, परमेश्वरीवादउत्पल 77, परमार्थसार 8, प्रमाणवार्तिक 8, ब्रह्मवादी 43, वौद्ध 49, भर्तृहरि 65, मनुस्मृति 106, मार्कण्डेयपुराण (15-18), राजानकराम 94, लक्ष्मी संहिता 105, विवृतिविमर्शिनी 22, विष्णुधर्म 80, विज्ञानवादी 43, वीरवामनक भट्ट 95, वैशेषिक 43, शम्भुभटारक 42, श्वेताश्वतरोपनिषद (3-3), साँख्यकारिका (4-4), त्रिशिका 65!

परमार्थसार नामक यह ग्रन्थ श्रीमान अभिनवगुप्त जी का सारमर्भित, पक्ष्पात रहित, ज्ञान से पूर्ण कुल सौ कारिंकाओं में ग्रथित छोटा सा ग्रन्थ है! यदि इसे संपूर्ण शेवशास्त्र की कुंजी के तुल्य मानें ता अत्युक्ति न होगी इसकी भाषा सरल हृदयग्राही है! वैसे यह शास्त्र, साख्यमत के "आधार करिका" नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है! इन्ही कारिकाओं को शैवी छाप देकर इस ग्रन्थ का निर्माण किया गया है!

इसके अतिक्ति उनकी विवृति प्रसादगुणसम्पन्न है, कभी कभी उसमें पुनरूक्ति दोषहै और साधारण शब्दों की व्याख्या भी अनेक है! मन्त्र सम्प्रदाय के रहस्य का उन्मीलन करने वाले अशं इसमें अनेक मिल जाते है![1] योगराज जी ने अपनी टीक में शैवग्रन्थों के अतिरिक्त उपनिषदों तथा गीता के आधार पर शिवाद्वय की स्थापना की है!

---

1. विश्वरसासवपूर्ण निकरगं विद्यखंडककपालम!

रसयति च यत्तदेतद् व्रतमस्य सुदुर्लभं च सुलभंच (परमा०, का० 80)

तृतीय अध्याय

परमार्थसार में संकलित सामग्री का सार!

परमार्थसता, जीव, जगत, छत्तीस तत्व, मल, बन्ध, उपाय, मोक्ष शक्तिपात, अवस्थाएं, योग, योगी, भैरवयाग

परमार्थसार में संकलित सामग्री का सार

अभिनवप्रणीत परमार्थसार काश्मीर शैव दर्शन का प्रवेशद्वार है! वस्तुतः सांख्य तथा वैष्णव दृष्टि से लिखे हुए प्राचीन ग्रन्थ का त्रिक दर्शन की दृष्टि से परिष्कार कर अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिये महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इस आधार कारिका शैव मुनि द्वारा प्रणीत मूलसिद्धान्त के प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थ को अपनाया था!

परमार्थसार का वर्ण्य-विषय

परमार्थसार, सारगर्भित पक्षपातरहित, ज्ञान से पूर्ण कुल सौ कारिकाओं में ग्रथित छोटा सा ग्रन्थ है जिसमें परमार्थसत्ता (शिव), जगत् (छत्तीस तावों) त्रिविधमल, वन्धमोक्ष, अनुपाय आदि उपायों का अत्यन्त सरल शब्दों में प्रतिपादन किया है! इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अति विस्तृत रूप में श्रेष्ठ एवं मुक्त योगी का वर्णन भी उपलब्ध होता है -

परमार्थसत्ता

परमसत्ता सृष्टि के निर्माण का हेतु है जिसमें शिव से पृथ्वी पर्यन्त सृष्टि होती है! परमशिव प्रकाश स्वरूप है! किसी की आवश्यकता से रहित अर्थात् परिपूर्ण, स्वात्मविश्रान्ति के कारण महानन्द इच्छा, ज्ञान, क्रिया से भरा हुआ तथा अनन्त शक्तियों से पूर्ण है! सभी विकल्पों से विरहित वह शुद्ध, शान्त, लय और उदय से विहीन जो परमतत्व है उसमें ही ३६तत्वों वाला विश्व प्रकाशित होता है! परमसत्ता इस विश्व का कारण रूप है![1]

---

1. (क)भारूप परिपूर्ण स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम! (पार, सा०, का० 10)
   इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितमनन्तं शक्ति परिपूर्णम!!
   (ख)सर्वविकल्प विहीनं शुद्ध शान्तं लयोदयविहीनम्! (तदेव का० 11)
   यापरतत्वं तस्मिन विभाति षटत्रिंशदात्म जगत!!

यह जो पूर्ण शिवतत्व है उसी में शिव से लेकर पृथ्वी तक का विश्व विश्रान्त होकर प्रकाशित होता है अर्थात् उस (शिव) से अभिन्न होकर ही विश्व प्रकाशमान है- यह युक्ति सङ्गत है परमतत्व महाप्रकाशस्वरूप है! परिपूर्ण अर्थात् निरकांक्ष है! स्वात्मबिश्रान्ति के कारण महानन्द कहा गया है! स्वात्मा अर्थात् स्वभाव अखण्ड़ अहन्ता चमत्कार के रस में विश्राम करने के कारण उसे महान आन्नद या परम निवृति होती है! परमशिव को इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया से भरा हुआ कहा गया है, शान्त ब्रह्म को मानने वालों की तरह वह शक्तिविहीन अतः जड़ के समान नहीं है! वरन् परमतत्व अनन्त शक्तियों से पूर्ण है! अनन्त अर्थात् सख्यातीत घटपटादिस्वरूपिणी नाम रूपात्मिका शक्तियाँ, जो इच्छा ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों की पल्लवभूता हैं ब्रह्मी आदि शब्दाराशि से उत्पन्न होती हैं, इन शक्तियों से वह सर्वतः परिपूर्ण है! शक्तियाँ उसी शिव से उठकर उसी में विलीन हो जाती हैं! इससे स्पष्ट है कि भगवान का स्वातन्त्र्य परावाक् स्वरूप है![1] यदि परम तत्व वागूरूप है तो शब्द से अनुबिद्ध होने के कारण काल्पनिक ही होगा और शुद्ध प्रकाशरूप शिव में कल्पना को कैसे माना जा सकता है? इसी के उत्तर में कहा है कि परमतत्व सभी विकल्पों से रहित है!

---

1. (क) चितिः प्रत्यवमर्शात्म परा वाक् स्वरसोदित!

स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्य तदैश्वर्य परमात्मनः!! (ई० प्र० भि० का० 1-5-13 भा० खं० 1, पृ० 150)

(ख) प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलाषात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं

संकेतनिरपेक्षमेवाविच्छिन्नचमत्कारात्मकम् अन्तर्मुखशिरो-

निर्देशप्रख्यम अकारादिमायीयसाकेतिकशब्दजीवित भूतनीलमिदं

चैत्रोऽहमित्यादि प्रत्यवमर्शान्तरमितिभूतत्वात् पूर्णत्वात् परा

वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक् .... (तदेव प्र० 252-53)

(ग) सर्वस्यहि मन्त्र एव हृदयम् मन्त्रश्च विमर्शनात्मा, विमर्शनं च परावाकूछक्तिभयमा .....

(तदेव पृ०, 263-64)

शिव जीव से अभिन्न है क्योंकि देहदारी रूप को ग्रहण कर जीव भाव से युक्त शिव ही है![1] अतः परमशिव का रूप जीव से भिन्न नहीं होता! यह सत्ता (परमशिव) देव, पशु मनुष्य तथा पादपं के रूप अर्थात् आकार को धारण करता है! ठीक उसी प्रकार जैसे निर्मल स्फटिक (मणि) विविध वर्णो (नीलपीत) का रूप धारण कर लेती है![2]

चन्द्रमा और शिव एवं वहते हुए जल तथा शरीरों इन्द्रियों आदि का सुन्दर सान्य परमार्थसार में परमसत्ता के स्वरूप वर्णन के अन्तर्गत प्रस्तुत हुआ है कि हम चन्द्रमा का प्रतिबिम्व वहते हुए जल में बहता हुआ सा और ठहरे जल में ठहरा हुआ चन्द्रमा सा देखते हैं वैसे ही यह परमतत्व शरीर रूप में शरीरिक परमसत्ता इन्द्रिय तथा भुवनों में इन्द्रियात्मक तथा भुवनात्मकपरमसत्ता दृष्टिगोचर होती है![3] अर्थात् शरीरों इद्रियों तथा भुवनों के समूह में प्रभु, शरीर इत्यादि का स्वरूप ही जाता है![3]

परमासत्ता प्रत्येक़ कण में विद्यमान रहती है! किंतु इसकी उपस्थिति होने का आभास पदार्थो के विषयों के ग्रहण करने से ही बुद्धि रूपी दर्पन में होता है ऐसे नहीं! जैसे राहु दिखाई न देने पर भी चन्द्रमा के विम्व में ठहरने पर दीख पड़ता है![4]

1. भोक्ता च तन्त्र देही शिव एव गृहीत पशुभावः (पार० सा० का० 5)
2. नानाविधवर्णानां रूप धत्ते यथामलः स्फटिकः!
   सुरमानुषपशुपादप रूपत्वं तद्वदीशोऽपि!! (तदेव, का० 6)
3. गच्छति-गच्छति जल इव हिमवरबिम्बं स्थिते स्थितियाति!
   तनुकरणभुवनवर्गे तथावमात्मा महेशानः!! (तदेव, का० 7)
4. राडरदृश्योडपि यथा शशिबिम्वस्थः प्रकाशेत तद्वत्!
   सर्वगतोऽप्ययमात्मा विषयाश्रयणेन धीमुकुरे!! (तदेव, का० 8)

परमतत्व तो सभी व्यवच्छेदरूप विकल्पों से विहीन है अतः अपरिच्छिन्न स्वभाव का है! इसीलिये उसे 'शद्व' या विमल भी कहा जाता है क्योंकि विकल्परूपिणी अबुद्धि की स्याही उसमें नहीं है! और वह (परमतत्व) 'शान्त' है! ग्राह्य और ग्राहक (प्रमेय तथा प्रमाता के द्वैत) से उत्पन्न. क्षोम के न रहने से शक्ति-सामरस्य के कारण परमतत्व स्वरूप में स्थित रहता है, वह पाषाणखण्ड़ की तरह भी नहीं है! साथ ही वह 'लय' और उदय से विहीन है यह आत्मा एकवारगी प्रकाशित है![1]

इस प्रकार वह सनातन ही है! अतः भूत भविष्यत् और वर्तमान वाला काल परमतत्व में नहीं चल पाता! क्योंकि काल का उदय उसी से हुआ है! अस्तु उत्पत्ति और विनाश से बाह्य परमतत्व को मानकर ही विश्व का विश्वत्व सङ्गत हो पाता है!

यह ससांर परमतत्व में प्रकाशित होता है परमतत्व की दृष्टि से कुछ भी भिन्न होकर मासित नहीं हो सकता! यदि यह जगत् भिन्न होकर मासित होता है, तो अद्वयवाद खण्ड़ित हो जाता है और यदि यह कहा जाय कि वह अभिन्न होकर मासित होता है तो वह कहना मात्र होगा! अतः परमतत्व का भेदाभेदरूप है![2]

1. (घ) न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शबदानुगमादृते!
अनुविद्धमिदं ज्ञानं सर्व शब्देन गम्यते!!
वारूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती!
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी!!
सैषा संसारणिां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते!
यदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्!! (वही पृ०)

2. (क) सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रहालोकाः! (छान्दोग्य० 8-4-2)
(ख) सकृद्विमातं सर्वज्ञम्! (गौड़पादकारिका, 3-36)
(ग) सुविभातं सकृद्विमातम्! (नृसिंहपूर्वतापनी)
(घ) सकृद्विभातं त्वजकमेकमृक्षरम्! (मुक्तिकोपनिषद् 2-73)

परमशिव ही एकमात्र परमार्थसत्ता है! काश्मीर शैव दर्शन में परमार्थसत्ता को प्रकाश और विमर्श का सामरस्यरूप माना गया है! प्रकाश ही शिव एवं विमर्श ही उसकी शक्ति अथवा स्वातन्त्र्य कहलाता है! जिस प्रकार अग्नि एवं उसका उष्णतत्व, जल एवं उसका शीतलत्व, पुष्प एवं उसका सुगन्धि कभी पृथक नहीं होते हैं, उसी प्रकार शिव और शक्ति में सदा अभिन्नता रहती है!

आगमिक दर्शन की सवससे वड़ी विशेषता है परमसत्ता को शक्तिरूप मानना! तन्त्र में परम चैतन्य । ब्रह्म या शिव । को ज्ञान एवं क्रिया दोनों से समन्वित माना गया है! यहां चैतन्य निष्क्रिय नहीं है वरन स्पन्दशील है, उसकी स्पन्दशीलता या क्रियात्मकता को शक्ति नाम से अभिहित किया गया है! चैतन्य तत्व या शिव वस्तुतः शिव तथा शक्ति, दोनों हैं! शिव पूर्ण है और उसी पूर्णता से लीला के रूप में सृष्टि लीला करता है!

शिव ज़ीव से भिन्न नहीं है, वह ही अज्ञान में जीव वनता है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता शिव जीवों के लिए सृष्टि करता है, वरन् यही कहना उचित है कि शिव अपने लिए सृष्टि करता है!

शिव अपने क्रिया स्वातन्त्र्य से जगत् की अभिव्यक्ति करता है! शिव की विशेषता है कि वह एक ही साथ परम और अन्तर्यामी दोनों है! उसका दोनों होना आवश्यक है! यदि वह केवल परम रहे तो वह विश्व से वस्तुतः असम्बद्ध हो जाएगा और यदि वह केवल अन्तर्यामी रहेगा तो उसके स्वातन्त्र्य् एवं निरपेक्षता में बाधा उपस्थित होगी! शिव का वास्तविक सौन्दर्य इसी में है कि वह जगत् से सम्बद्ध भी हो और जगत् से परे भी हो!

विश्व-कारण परमशिव की ही एकमात्र सत्ता काश्मीर शैव दर्शन में मानी गई है! वह प्रमाता और प्रमेय अथवा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है! शिव अनुभव कर्त्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है, क्योंकि वह अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभूत होने वाला जगत् दोनों है![1] अपने अन्तः स्वरूप मे ही निहित अद्भुत शक्ति के माध्यम से वही स्वयं को ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करता है तथा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने पर भी वह अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत नहीं होता!

काश्मीर शैव दार्शनिक शिव को अज्ञेय तथा अनिवर्चनीय मानते हैं, किन्तु शिवत्व प्राप्त होने पर शिव का ज्ञान हो सकता है तथा शिवत्व की प्राप्ति होने में आगम का उपयोग है! आगम की उपयोगिता शाखा चन्द्रन्याय से है! जिस प्रकार वच्चे को चन्द्रमा दिखाने के लिए कहा जाता है कि चन्द्रमा शाखा पर है तथा शाखा पर देखने से चन्द्रमा सहज ही दिखई देने लगता है, जबकि वास्तविकता यह है कि चन्द्रमा शाखा पर नहीं होता! आगम का भी उपयोग कुछ इसी प्रकार का है! आगम के आधार पर शिवत्व प्राप्त कर शिव का ज्ञान किया जा सकता है! शिव आत्मा ही है तथा आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है! समस्त पदार्थो में विद्यमान आत्मा ही शिव है!

---

1. "भोक्तैव भोग्यभावेन सर्वत्रावस्थितः" - स्प० का० 2/29

काश्मीर शैव दर्शन में परमार्थसत्ता परिपूर्ण और सर्वसम्पन्न सत्ता है, जो सव कुछ है तथा सभी सीमित वस्तुओं से परे और समग्र सत्ता भी है! शिव आत्मरूप होते हुए भी परमसत्ता है, क्योंकि वह निराकांक्ष एवं सभी वद्धताओं से स्वतन्त्र सत्ता है! शिव सत्, चित् आनंद है!

काश्मीर शैव दर्शन में शिव विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों है! शिव विश्वभय है, क्योंकि वास्तव में विश्व शिव की शक्तियों का ही विकास रूप है![1] शिव विश्वोत्तीर्ण भी है, क्योकिं जगत् शिव का आभास है तथा शिव को इसका ज्ञान भी रहता है! शिव ही जगत् के रूप में अवभासित होता है तथा सृष्टि प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण भी होता है किन्तु सारी प्रक्रियाओं मे अप्रभावित भी रहता है अर्थात् सम्पूर्ण परिवर्तनों का स्रोत होते हुए भी शिव अपरिवर्त नीय है!

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार यदि परमतत्व में आत्म चेतना नहीं होती, तो वह परमतत्व न होकर अचेतन जड़ के समान होता![2] तब यह उस भौतिक प्रकाश ।दीपक । के समान होता, जिसमें अपने प्रकाशित होने का वोध नहीं होता! क्रिया और आत्म-चेतना से रहित परमतत्व अवोधगम्य हो जाता है! बिना आत्म-चेतना के आनन्द की कोई अनुभूति नहीं हो सकती,

---

1. स्वशक्तिप्रचयोस्य विश्वम् - शि० सू० 3/30
2. अस्थास्यदेवत्रूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः
   मदेश्वरत्वं सवितृवं तदात्यक्षद् घटादिवत्!! - त० ओ० 3/100

क्योकि आनन्द चेतना की आन्तरिक क्रिया है! यदि उसमें क्रिया नहीं रहे! वैदान्त में आनन्द को चित् की स्थिर अवस्था माना गया है, किन्तु काश्ममीर शैव दर्शन में यह चेतना का सहज उच्छलन है! यहाँ आनन्द क्रिया रूप है!

परमशिव पराप्रमाता, सर्वोच्च एवं पूर्णाहम् रूप है, जो सभी वस्तुओं को अपने में समाहित किए हुए है! वह सृष्टि, स्थिति, संहार निग्रह और अनुग्रह रूप पंच कार्यो को सतत् करता रहता है! परमसत्ता को किसी भी प्रमाण इत्यादि के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें आत्म तत्व नहीं है! वह स्वतः सिद्ध है, क्योकि प्रमाणदि भी उसी से प्रमाणित होते हैं! वस्तुतः वह देश, काल और आकार की सीमा से सर्वथा अतीत है! वह पूर्ण सत्य है और इससे स्वतन्त्र कोई चीज नहीं है! परमसत्ता को निगुर्ण और सगुण दोनों कहा जा सकता है! उसमें बहुत शक्तियाँ रहती हैं, परन्तु उनमें से मुख्य चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान और क्रिया उसकी स्वरूपभूति शक्तियाँ मानी गई हैं!

जीव

वास्तव में जीव शिव रूप ही होता है! शिव और जीव में पारमार्थिक रूप से तो अभेद माना गया हैं, परन्तु अपनी माया शक्ति से मोहित होने की दशा में या मलिन होकर स्वरूप एवं शक्तियों के संकुचित होने पर वह बद्ध अथवा जीव कहलाता है![1]

जीव को पशु, बद्ध, संसारी आदि भी कहा जाता है इसको पशु इसलिए कहा जाता है क्योकि वह अज्ञान वंश होकर स्वरूप को भूल कर पशु वत परतन्त्र विचरने लगता है! वद्ध कहे जाने का कारण है कि वह मायादि मलों के पाशो का झकड़ा हुआ है!

संसृति इति अर्थात् वह ससांर में ससंरण करता है इस हेतु से जीव को ससांरी भी कहते हैं!

शिव ही जीव से कर्म करवाता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शिव हाथ पकड़ कर उसको कार्य में सलग्न करता है! अपितु शिव कर्म को करने की प्रेरणा देता है! इसलिए वास्तविक कर्ता शिव ही है इसके दो अर्थ हो सकते हैं! एक तो यह कि सारी कि सारी कर्म शक्ति शिव की है, जीव या अहंकार की नहीं! जब शक्ति शिव की ही है तो वास्तविक कर्ता शिव को ही कहा जाएगा किन्तु कर्म का उत्तरदायित्व शिव पर नहीं होगा क्योकि उस शक्ति को सही या गल्त पद्धति से उपयुक्त करने का दायित्व तो जीव पर ही है! उदारर्णाथ कोई पुत्र जो भी खर्च करता है वह सम्पूर्ण धन पिता उसे प्रदान करता है अतः यही कहा जाएगा कि वास्तविक व्यय तो पिता ही कर रहा है, किन्तु पिता केवल धन देता है उस धन को किस प्रकार व्यय करता है इसका दायित्व पुत्र पर है! उसी तरह जीव जो भी कार्य करता है, उसकी समस्त शक्ति परमतत्व (शिव) से आती है! अतः इस अर्थ में परमात्मा ही वास्तविक कर्ता हुआ, परन्तु उस शक्ति का सदुपयोग

माया परिग्रहवशाद् वोधो मलिनः पुमान् पशुर्मततिः!
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्याबशेन सम्बद्धः!! - (पार० सा०, क० 16)

या दुरूपयोग करना जीव पर निर्भर करता है! अतएव पाप अथवा पुण्य भगवान नही करवाता वह (जीव) स्वयं करता है! जीव ही बन्ध की स्थिति में मोह आदि में फंस कर जीव बन जाता है और मोक्ष की स्थिति आने पर वही जीव शिव रूप हो जाता है, अर्थात अपने स्वरूप को विस्मृत करना, जीव और स्वस्वरूप को भिज्ञ करना ही शिव है![1]

पारमार्थिक दृष्टि से जीव शिव ही होता है![2] जिस प्रकार से शिव पाँच प्रकार के कृत्यों को करता है,[3] उसी प्रकार से जीव में अवस्थित्त होने पर भी वह सदा पाँच प्रकार के कृत्यों को करता ही रहता है![4] परन्तु माया के प्रभाववश यह कृत्य सीमित सामर्थ्य वाले होते हैं![5]

जगत

शेव के अनुसार यह जगत् सत्य है! इस मतानुसार शक्तिविशिष्ट परमशिव से समुत्पन्न हुआ यह चराचरात्मक सकल जगत् मिथ्या नहीं हैं! परमार्थसार अनुसार वस्तुतः शिव ने शक्ति, माया प्रकृति और पृथ्वी आदि का इस प्रकार विभाजन करके अपनी शक्तियों के एंश्वर्य के उच्छलन से कृमशः चार अण्डों (शाक्ताण्ड, मायाण्ड़, प्राकृतण्ड़ तथा पार्थवाण्ड़) को उत्पन्न किया है![6] इसी अण्डचतुष्ट्य के अन्तर्गत भोक्ता एवं भोग्य तथा प्रमाता और प्रमेय एवं दृष्टा तथा दृश्य का छत्तीस तत्वों वाला (शिव से पृथ्वी पर्यन्त) समग्र विश्व अप्तर्भूत है!

1. भोक्त च तत्र देही शिव एव गृहीत पशुभावः!! (पार० सा०, क० 5)
2. "शक्तिदरिद्रः तु संसारी शक्ति विकासे तु शिव एवं" - प्र० ह० पृ० 105
3. "नमः शिवाय सततं पंचकृत्य विधायिने" - प्र० ह० श्लो०!
4. "तद्वत् पंचकृत्यानि करोति" - प्र० ह०, सू० 10
5. "आभासनरकितविमर्शबीजावस्थापनविलापनस्तानि" प्र० ह० सू०!!
6. निजशक्तिवैभवभराद् अण्ड़चतुष्टयमिदं विभागेन
   शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रमावितं प्रभुणा - पार० सा०, का० 4

जैसे कछुआ एक साथ में अपने पैरों को वाहर निकाल कर पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में उन पैरों को अपने में छिपाकर वैठा रहता है वैसे ही परमशिव अपने में नित्य सम्बधं से रहने वाले जगत् का एक समय में विकास करता है और दूसरे समय में संकोच करता है! कछुआ जब अपने पैरो को बाहर निकालता है, तब उन पैरो की उत्पत्ति कहना, फिर जंब भीतर छिपाता है, तब उन पैरो का नाश कहना जैसे अत्यन्त हास्यास्पद है, वैसे ही सत्य और नित्य इस प्रपंच की उत्पत्ति और नाश कहना अत्यन्त हास्यास्पद है! अतैव उत्पत्ति और नाश शब्दो के स्थान पर "शक्ति-विकास" और "शक्ति संकोच" कहना अधिक उपयुक्त होगा! सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं प्रलय का क्रम शिव और शक्ति प्रकाश और विमर्श का प्रसार तथा संकोच है!

<u>छत्तीस तत्व</u>

शिव विश्व उत्पन्न करने की इच्छा करता है, इसलिए सृष्टि का आरम्भ वस्तुतः सदाशिव से होता है! सदाशिव से पहले वाले शिव शक्ति तत्व चूंकि उस सृष्टि क्रम के मूल हैं अर्थात् शिव शक्ति ही इस सृष्टि क्रम के मूल हैं अर्थात् शिव शक्ति ही सृष्टि क्रम के कर्त्ता हैं, इसलिए वे भी तत्वो में सम्मिंलत!

ये तत्व परमतत्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं! इसलिए ये मूलतः परमतत्व के तदनुरूप ही है! प्रत्येक तत्व की दो अवस्थितियाँ होती हैं! यह शिव को व्याप्त करता है और विश्व के अड़गो का निर्माण कार्य संपादित भी करता है! इन तत्वों का सम्बन्ध परमतत्त्व से सदैव बना रहता है! ये न तो शिव से ही पृथक हैं और न एक दूसरे से ही प्रत्युत प्रत्येक तत्व में सभी तत्व उपस्थित हैं!

शिवतत्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्व तक ही सृष्टि शुद्ध अध्वा या शुद्ध सृष्टि कही जाती है! सृष्टिक्रम के ये पाँच तत्व शिव द्वारा स्वंय विना किसी सहायता के या अन्य वस्तुओं के माध्यम से सीधे अभिव्यक्त होते हैं! तन्त्रासार के अनुसार साक्षात् शिव इनका कर्ता है!

शुद्ध अध्वा की स्थिति में चेतना को अपने स्वरूंप का ज्ञान नहीं रहता वहाँ शुद्ध संवित् स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रहता है! परमशिव अपने परिपूर्ण स्वातन्त्रय की लीलाविलास से अपनी इच्छा के द्वारा इस शुद्ध अध्वा की सृष्टि एवं संहार आदि को स्वंयमेव करते रहते हैं! इन पांच तत्वों तक परमशिव सृष्टि संहार आदि के ऐश्वर्य को भी नहीं सौंपते है! शुद्ध सृष्टि तक परमशिव से अभेदभाव की अनुभूति बनी रहती है! इन पाँच तत्वो तक की इस शुद्ध सृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता है!

काश्मीर शैव दर्शन के तत्त्वज्ञानियें ने छत्तीस तत्वों को तीन भागें में विभक्त किया है!

आत्मतत्व	मायातत्व	शिवतत्व
↓	↓	↓
पृथ्वी से माया पर्यन्त 21 तत्व	शुद्धविद्या ईश्वर सदाशिव	शिव और शक्ति

इसके अतिरिक्त पञ्चकलात्मक और अण्ड़तुष्टयात्मक पद्धति से भी इनका (36 तत्वों) वर्गीकरण किया है!

(1) <u>पञ्चकलात्मक</u> निवृति, प्रतिण्ठा विद्या, शान्ताकला और शान्यतीताकला!

(2) <u>अण्डचतुष्टयात्मक</u> शाक्ताण्ड़, मायाण्ड़, पाकृताण्डतथापार्थण्ड़!

परमार्थसार में भी छत्तीसतत्वों का निरूपण अण्डचतुष्टयात्मक रूप में उपलब्ध होता है! इनका (तत्वों) वर्णन इस प्रकार दिया जा रहा है-------

1. शिवतत्व

ईश्वरता, कर्तृता, स्वतन्त्रता, चिरस्वरूपता, पूर्णअहंता के पर्याय हैं! पूर्णअहंता ही शिवत्व है! शिव को परासंवित्, भैरव किंवा परम तत्व भी कहते हैं! यह निर्विकल्प एवं स्वतत्रं है! परमशिव की दो स्थितियाँ मानी गई हैं:- अतिभौतिक और अन्तर्भूत या विश्वोतीर्ण तथा विश्वमय! ज्ब स्वतन्त्र चिद्धन संवित्स्वभाव परमशिव अपनी स्वातन्त्रय शक्ति से पारमार्थिक कारण कार्य भाव से अपने स्वरूप का ही अपने अन्तर्गत अखिल विश्वरूप में अवभासित करने की इच्छा करता है, तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस आद्या इच्छा स्पन्द है![1] यह वास्तविकता की पहली अभिव्यक्ति है! परमार्थसार में उन्लख है कि परमशिव जगत् की प्रत्येक वस्तु में, अपनी स्वातन्त्रय शक्ति के कारण भासित होता है![2] तत्रंसार के अनुसार पंचशक्ति स्वभाव परमशिम में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिव तत्व कहलाता है![3] यह शुद्ध "अहम्" के अनुभव की अवस्था है! इस अवस्था में प्रमेय का अभास होता है! सब कुछ शिवमय होता है, शिव से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं होता, इसलिए "अहम्" प्रत्यय के साथ "अस्मि" नहीं लगाया जाता क्योकि अस्मि सम्बन्ध का द्योतक है! इस अवस्था से सम्बन्धित विषयी शाम्भव कहलाते हैं! प्रत्येक जीव में रहने वाला शिव तत्व ही आत्म तत्व है! तत्व चैतन्य स्वरूप है![4]

2. शक्तितत्व

शक्ति तत्व शिव की शक्ति है! यह परमशिव की आभास रूपता में दूसरा तत्व है, जो शिव का अभिन्न स्वरूप है! प्रकाशत्म शिव का विमर्श स्वरूप ही शक्ति तत्व है! यदि शिव में विमर्श शक्ति न हो तो वह "अनीश्वर" तथा जड़ हो जायेगें! शक्ति तत्व शिव के साथ सदैव अभिव्यक्त होता है! दोनों में अभिन्न एवं अविनाभाव सम्बन्ध है! जब परमशिव के हृदय में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है, तब शिव और शक्ति तथा अन्य तत्व अभिव्यक्त होते हैं ऐसा परमार्थसार में भी वर्णन मिलता है![5] जिस प्रकार चेतना सत्ता की पूर्वकल्पना करती है, इसी प्रकार शक्तितत्व की पूर्वकल्पना शिव तत्व द्वारा होती है! तन्त्रालोक के अनुसार बाह्योन्मुख परमशिव की उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्ति तत्व है![6]

---

1. यदयमनुत्तरमूर्तिनिजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम!
   पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्वमुच्यते तज्ज्ञै!! (ष० त्रि० त० स० 1-1)
2. भारूपं परिपूर्ण ....जगत् (पार० सा० का० 11)
3. चित्प्राधान्ये शिवतत्वम्! (तं० सा०, पृ० 74)
4. चैतन्यमात्मा! - (शि० सू० 1/1)
5. शिवशक्तिसदाशिव ....भासयति!! (पार० सा० का० 14)
6. "तस्य । परमशिव । बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्वम्" - (त० आ० मा० 6, पृ० 50-51)

वास्तव में चिद्रूपता का उन्मेष अन्तर्मुख होना है और और उसका निमेष ही बहिर्मुख होनहै! क्योंकि परमशिव सभी में है और सब उसी में विद्यमान हैं, अतः उसके विषय में वाहर और भीतर होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता!

शिव और शक्ति में किसी भी प्रकार से, कोई भी भेद नहीं किया जा सकता! शिव तत्व की अवस्था में अनुभव का प्रत्यय अहं होता है, क्योंकि शक्ति के कारण ही शिव को अपना वोध· होता है! इस स्थिति में आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है! इस से (शक्ति) सम्बन्धित सत्ताएं शाक्त कहलाती हैं!

3. सदाशिव तत्व

इच्छाशक्ति के प्राधान्य होने पर एवं ज्ञान के उद्रेक होने पर शिव का आभासन सदाशिवतत्व है! शिव शक्ति की अवस्था अभेद की है उसमें भेद का कुछ भी भान नहीं होता! सदाशिव तत्व भेदाभेद की भूमि को व्यक्त करता है! शिव के अन्तर्मुख स्पन्द में ज्ञान की और उसके वहिर्मुख स्पन्द में क्रिया की अस्फुट एवं निर्विषयक अभिव्यक्ति होती है! शिव का अन्तः निमेष सदाशिव है![2] चूकि इस भूमिका में भी वास्तविक वाह्यता स्थापित नहीं होती इसलिए यह शिवतत्व से अभेद की भूमिका है! पर आन्तर बहिर्मुखता का अस्फुट अभासन होता है! इसलिए यह भेद की भूमिका भी है! इस प्रकार सदाशिवतत्व की भेदाभेद की भूमिका है! इस भूमिका का अनुभव करने वाला प्रमाता मन्त्रमहेश्वर कहा जाता है! उनकी अनुभुति का स्वरूप "अहमिदम" का है! इस प्रतीति में "इदं" अहं से भिन्न नहीं, उसी का रूपभेद है, क्योंकि इदं भी आन्तर ही है! "अहमिदम" की प्रतीति में भी इन्दता अहन्ता से आच्छादित रहती है! "अहं" "इदय" अशं का अस्फुट उल्लास ही सदाशिवतत्व है![3] कुछ अस्फुट रेखाओं से उन्मीलित चित्र की भांति सदाशिवतत्व है, जिसमें विश्वारूपी चित्र का प्राथमिक आभास तो है किन्तु वह उकरा "अंकित" हुआ नहीं है! शिव शक्ति की भूमिका "सदसद" की भेद-भूमिका से सर्वथा परे है किन्तु सदाशिवतत्व में "सत" प्रथम अभिव्यक्ति होती है! इसलिए इसे सादाख्य तत्व भी कहा गया है![4] जगत् का प्रलय इसी अवस्था में आकर पूर्ण हो जाता है इसीलिए आगमों में इसे अन्तः निमेष कहा गया है!

---

1. आन्तरत्वमिदं प्राहुः सविन्नैकतयशक्तिताम् --------- तन्निमेषताम्!! (ता० आ० भा० 7, आ 10 पृ० 218-19)
2. निमेषोऽन्तः सदाशिवः ! - (ई० प्र० भि०)
3. तत्र पदा "अहम" इत्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमशंमुल्लासयति तदा तस्यास्फुटा बात सदाशिवता "अहमिदम" इति (ई० प्र० भि० वि० भाग 2 पृ० 191)
4. यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्चसदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्वम्! तत्सादाख्यं तत्वम्! (ई० प्र० भि० वि० भाग 2 पृ० 195)

4. ईश्वरतत्व

शिव की इच्छा का वहिर्मुख स्पन्द ईश्वर तत्व कहलाता है! इस तत्व की अभिव्यक्ति शिवेच्छा में क्रिया शक्ति के उद्रेक से होती है![1] जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट होर्ती है! इस स्तर पर अनुभव का प्रत्यय "इदम-अहम" होता है! यहाँ "अहम" अंश गौण रहता है और "इदम" अंश की प्रधानता रहती है! इस स्तर पर क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों की स्थिति ·मानी गई है, पर यहाँ ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है![2] यहाँ सृष्टि रचना का विचार स्पष्ट हो जाता है! इस स्थिति में अनुभव का "इदम्" पक्ष या ब्रह्माण्ड स्पष्टतः परिभाषित हो जाता है जिस प्रकार एक कलाकार के मन में जो चित्र उसे बनाना होता है, उसका सर्व प्रथम धुंघला विचार बसा रहता है और वाद में चित्र बनाते समय वह स्पष्ट होता जाता है, उसी प्रकार सदाशिव की स्थिति में ब्रह्माण्ड का एक धुंघला विचार होता है, परन्तु ईश्वर की स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है! यहाँ स्वामित्व आत्म-चेतना से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है! ईश्वर तत्व के प्रमाता मन्त्रेश्वर कहलाते हैं!

5. (क) शुद्धविद्यातत्व

अभिव्यक्ति की इस अवस्था में अनुभव के "अहम" और "इदम" दोनो रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है! इस स्तर पर क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है![3] यहाँ विषयीमूलक और विषयमूलक चेतना की बराबर अभिव्यक्ति होती है! अनुभव का प्रत्यय मैं यह हूँ, रूप का होता हे! इसमें "मैं" और "यह" की बराबर स्थिति रहती है! यहाँ "यह" और "मैं" में तादात्म्य बना रहता है! दोनों में पूर्णतः आदि है, परन्तु वैचारिक दृष्टि से दोनों में भेद भी किया जा सकता है, क्योंकि यह स्थिति वस्तुओं के सम्बन्ध की द्योतक है! इस अवस्था में अनुस्यूत अनुभव के प्रमाता "मन्त्र" प्राणी या विद्येश्वर कहे जाते हैं!

शुद्ध विद्या तत्व, सदाशिव तत्व और ईश्वर तत्व के अधिष्ठातृ देवताओं का करणस्यानीय तत्व है![4] जिस प्रकार परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्ति तत्व कहलाता है, उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्धविद्या तत्व कहा जाता है![5] इस प्रकार शुद्ध

1. "वहिर्मावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकामासे सति पारमेश्वरं शब्दवाच्यमीश्वरतत्वं नाम"!
   - (ई० प्र० वि० भा० 9, पृ० 192)
2. ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वर तत्वम्! - त० सा० आ० 8 पृ० 74
3. क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्या तत्वम्! - तदेव
4. तदाधिष्ठातृदेवताद्वयगतं "करण" विद्या तत्वम्! - ई० प्र० भा० 2, 3/1/5
5. यधापि परमशिवस्यै वेद मेकधनयैश्वर्य तथापि यस्य यथा बाहिरौन्मुख्येन व्यापरः शक्ति तत्वं तथा सदाशिव वरयोरपि विद्या तत्वम्"!! - त० टी० भा० 6 पृ० 50-51

विद्या के भीतर माया का जैसा दृष्टिकोण अशंतः रहता है, परन्तु माया का प्रभाव इस अवस्था में अवास्थित आत्मा पर नहीं होता! "वास्तव" में यहाँ भेदाभेद दमय दृष्टि होती है! यहाँ प्रमाता को "अंहता" और "इदन्ता" जैसे दो रूपो का विमर्श होता है, इसलिए उसका विमर्श भेदभय तो है ही, किन्तु अहंता और "इदन्ता" रूप प्रत्यवमर्श होने पर भी वह प्रमाता अहंता की चिद्रुपता की भांति "इदन्ता" को भी चिद्रूप ही समझता है! अतः "अहं" और "इदम" दोनों में एक ही चिद्रूपता का परामर्श होने के कारण उसकी दृष्टि अभेदमयी भी है!

कुछ शैवाचार्यो के अनुसार विद्या तत्व के बहुत से अवान्तर भेद भी होते है जिनमें महामाया प्रमुख है! यह माया से ऊपर और विद्या से निम्न दशा होती है! इसमें भी क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है! यहाँके प्रमाताओं को "विज्ञानकाल" कहते हैं, जिनका अनुभव अंह-अंह-इदं-इदं अस्मि होता है!

(ख) अशुद्ध अध्वा

शुद्ध अध्वा के वाद माया तत्व से लेकर पृथ्वी तत्व तक की सृष्टि अशुद्ध अध्वा कहलाती है! इससे अशुद्ध सृष्टि मायीय सृष्टि भी कहा जाता है! अशुद्ध अध्वा में माया का प्राधान्य रहता है और उस मायीय जगत की सृष्टि माया की सहायता से अधोरेश ।अनन्त भट्टारक । के द्वारा होंती है![1] माया के मलों का समावेश हो जाने के कारण ही इस अध्वा को अशुद्ध या अशुद्ध सृष्टि कहते हैं! माया के प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर सीमिंत हो जाता है! अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमता को भूल कर आत्मा को चिद्रूप न समझ कर शरीर को ही आत्मा समझने लगता है! इस प्रकार अपने को सीमित अनुभव कर दुःखी होने लगता है! उसे अपने सर्वव्यापी स्वरूप का स्मरण नहीं रहता! अपने को सबसे पृथक और सबको अपने से पृथक अनुभव करने लगता है! इस प्रकार से ग्राहय-ग्रहक भाव उत्पन्न हो जाने के कारण ही उतरवर्ती सृष्टि अशुद्ध सृष्टि अथवा अशुद्ध अध्वा कहलाती है!

---

1. अशुद्धं (माया प्रभृतिकम) पुनरध्वानमनन्तापरनामाधोरशेः सृजति (त० सा० आ० 8 पृ० 75)

ईश्वरेच्छावशेन प्रक्षुब्धभोगलोलिकानामणूनां भोगसिद्धयर्थम"!

6. मायातत्व

माया तत्व अभिव्यक्ति की वह अवस्था है, जिसमें विषयी की एकता विविधता में अभिव्यक्तं होती है! यहाँ अहम् अंश पुरूष रूप में तथा इदम् अशं प्रकृति रूप में अभिव्यक्त होता है! अचित् में प्रमातृत्व का आभास होने लगता है! इस स्तर पर सार्वमौम आत्मा सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होता है! परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीडा करते हुए इस माया तत्व का अवभासन करते हैं![1] यही उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति है! भेद का अवभासन करने के कारण ही यह मायाशक्ति कहलाती है![2] इसमें विषयी और विषय की एकता नष्ट हो जाती है! वे पृथक जैसा अभिव्यक्त होने लगते हैं माया का स्वरूप तिरोधानकरी है![3] जो अपनी पूर्णता में शिव था वही संकोच ग्रहण के कारण जीव बन जाता है! परम स्वतन्त्र स्वात्मदेव को जो अपूर्णता स्वरूप पशुत्व में परिमित या सीमित कर दे वही उसकी अभिन्न माया शक्ति है!

माया शक्ति अनात्मस्वरूप प्राण, बुद्धि एवं शरीर का आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करती है! काश्मीर शैव दर्शन में माया का स्वरूप तीन प्रकार से वर्णित है - जड़ व्याप्क तथा सूक्ष्म! व्यावहारिक जगत् में चिदात्माा से पृथक होने के कारण यह अचेतन है तथा इसके कार्य भी अचेतन हैं! भेदरूप सृष्टि करने के कारण माया को जड़ कहा गया है, क्योकि माया से

1. देवः स्वतन्त्रचिदरूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः!
   रूपप्रच्छादन क्रीडांयोगादणुनेककः!! - त० आ० भा० 8-13/103
2. परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्रयं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनास्ति इति मायाशक्ति उच्यते! तं० लो० टी० भा० 6 पृ० 116
3. तिरोधानकांरी मायाभिधाः पुनः! ई० प्र०, भा० 2, 3/1/7

भेदरूप से पदार्थो का प्रकाशन होता है,[1] और इस दर्शन के अनुसार ज्ञान की परिच्छिन्नता ही जड़ता का लक्षण है![2]

ससांर का कारण होने के कारण माया व्यापिनी तथा कार्यो की कल्पना करने के कारण सूक्ष्म कही जाती है! परमेश्वर की शक्ति होने के कारण यह नित्य है तथा विश्व का कारण है! पृथिवी पर्यन्त सभी तत्व इसमें निहित है!

काश्मीर शैव दर्शन में माया-कलादि षट्कञ्चुकोत्पादित आणव आदि मलों को भी अविद्या के नाम से अभिहित किया गया है! उसी को अज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि यह अनात्मा में आत्मबुद्धि उत्पन्न कराने वाली है! ज्ञान के विपरीत स्वरूप वाली होने के कारण इसको मिथ्या ज्ञान भी कहा जा सकता है! परमार्थसार में भी वर्णन मिलता है कि ज्ञान रूप प्रभु (शिव) माया के प्ररिग्रहण से मलिन होकर परूष तत्व (जीव या पशु) बनता है![3] संक्षेप में मायातत्व की सृष्टि का मूल कारण परमशिव की इच्छा ही है! यह एक वस्तुभूत तत्व है जो परमेश्वर को स्वरूप के ऊपर पर्दा डालकर उसे छिपा देती है! और इस अभेदस्वरूप शिव में भेद का स्फुट अभवास इस माया के द्वारा ही उत्पन्न कर दिया जाता है!

माया के पांच कञ्चुक

काश्मीर शैव दर्शन में माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल तथा नियति का प्रादुर्भाव माना गया है! कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त पदार्थ माया ही कहे जाते हैं! पुरूष के स्वरूपाच्छादंन होने के कारण अभी ही, "कुछ ही", यही पूरी तरह से ही: जानता हूँ, कला आदि पचं कञ्चुक अथवा माया सहित पटकचुक जीवात्मा के आन्तरिक आवरण कहे गये हैं! ये

---

1. "सा जडा भेदरूपत्वात्" ! - तं० आ० भा० 6, 9/151
2. "प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जड़स्य किल लवणम्" - तं० आ० टी० भा० 6 पृ० 227
3. मायापरिग्रहवशाद् बोधे मलिनः पुमान पशुर्भवति! पर० सा० का० 16

तत्व परिमित शक्तियां ही हैं! इन संकुचित शक्तियों से अपूर्णता में आबद्ध होने के कारण इन कञ्चकों को जीव का वन्धन भी कहा जाता है![2]

परमशिव की सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व रूप असंकुचित शक्तियाँ ही उसकी इच्छा से संकुचित हो कर क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप में भासित होने लगती हैं!

7. कला

इसकी उत्पत्ति माया से होती है! यह आत्मा के सर्वकर्तृत्वस्वरूप को आच्छादित कर देती है! तदन्तर जीव को परिमित कर्तृत्व का अनुभव कराती है![3] इस अवस्था में कुछ करता हूँ, का अनुभव होने लगता है! काश्मीर शैव दर्शन में कला को तत्व रूप में शास्त्रीय मान्यता प्राप्त है क्योकि इसके द्वारा ही मानव को परिमित शक्ति की व्याख्या होती है! कला से ही प्रधान । प्रकृति । की उत्पत्ति होती है![4] कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी है अर्थात अग्रिम विद्या, राग काल आदि चार तत्वों की उत्पत्ति कला से होती है!

कला तत्व माया का प्रथम उत्पादन है! कहीं कहीं काल को भी प्रथमकञ्चुक माना जाता है! माया प्रमाता की चेतना का अपहरण कर उसे जड़ सा बना देती है! परन्तु पूर्ण जड़त्व से भी काम नहीं चल सकता, अतः काम चलाने के लिए थोड़ा - सा चेतना का अंश

1. अधुनैव किंचिदेवेदमेव सर्वात्मनैव जानामि - (पार० सा०, का० 17)
   मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गभूमिदमुक्तम्
2. कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते"! (अ० प्र० प० श्लो० 16)
3. तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपदार्थमात्रपरा! किंचित्कर्तारमुमं कलपन्ती कीर्त्यते कला नाम!!
   - (ष० त्रि० त० स० श्लो० 8)
4. वेद्यमात्रं स्कुटम् भिन्नं प्रधानं सूयते कला! त० आ० 9 पृ० 177 .

भी दे देती है![1] वह चेतना का अशं उसे कुछ-कुछ करने की शक्ति प्रदान करता है! सह कला तत्व है, जो आत्मा के लिए क्रियाशक्ति एकत्रित करता है!

8. विद्या

इसके संसर्ग से परम प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की सर्वज्ञ शक्ति अथर्ति ज्ञान शक्ति संकुचित हो जाती है! वाद में चेतन एवं अचेतन इन्द्रियादि में सीमित ज्ञान का उदय होता है! सीमित ज्ञान का मुख्य कारण होने से इसे विद्या कहा जाता है![2] जीव कुछ ही जान सकता है! अतः प्रमेयों को अपने से सर्वथा भिन्न समझता है! उसकी इस सकुंचित ज्ञान विद्या को "अशुद्ध विद्या" कहा जाता है! यह पुरूषो में विवेक शक्ति के रूप में स्थित है! यह बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिविंबित नील पीत-आदि वाह्रय और सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर वेधभावो का विवेचन करके जीवत्मा को उनसे होने वाले सुख दुःखादि प्रत्ययों से अवगत कराती है! विद्या ज्ञान की सीमित शक्ति है, जो सर्वज्ञता के स्थान पर सीमित ज्ञातृता को उत्पन्न करती है! यह बुद्धि तत्व से भिन्न, जो अचेतन है! बुद्धि अपने में प्रतिबिंम्ति भावों को पृथक् - पृथक् कर उनसे उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रत्ययों का ज्ञान मितात्मा को नहीं करा सकती!

---

1. एवं कला विद्याकालरागनियतिमिरीतप्रोतो माययामहहृतेश्वर्य सर्वस्वः सन् पुनर्रापि प्रतिवितीर्णतत्सर्वस्व राशिमध्यगतभाग मात्र एवं भूतोऽयं मितः प्रमाता भति - (ई० प्र० वि० 3-1-9)

2. सर्वज्ञातस्य शक्ति :............ निगधते बुधैराधै!! - (ष० त्रि० तं० सं० श्लो० 9)

9. राग

राग तत्व पूर्णत्व को परिमित करके पुरूष में इच्छा या कामना का उदय कराता है! इस प्रकार यंह सीमित इच्छा शक्ति ही है, जिस पर किसी वस्तु का वरण करना या विषेद करना निर्भर है! सुन्दरता आदि गुणों का शरीर के ऊपर अध्यारोप राग तत्व ही के कारण होता है! इस राग तत्व नामक कञ्चुक को वैराग्य का अभावरूप राग नहीं समझा जा सकता, क्योकि वह तो बुद्धि का एक धर्म बिशेष है! पुरूष का कञ्चुक नहीं! यह रागं तत्व बुद्धि की भूमिका से ऊपर का तत्व है और बुद्धि के धर्म "स्थूल राग" से सुक्ष्मतर है!

माया से स्वरूप संकोच हो जाने के कारण मितात्मा समस्त विश्व को आत्मभाव से न देखकर शरीर जैसी वस्तु की "अहम्" अथवा "मम्" समझता है तथा उसे अत्यन्त गुण शलिनी मानने लगता है! मितात्मा के देहादि प्रमातृभाव और प्रमेय मे इस तरह को गुणारोपणमय आसक्ति को राग कहते हैं! राग व्यक्तियों में विषय के लिए लालसा उन्पन्न करता है शाश्वत संतुष्टि के अनुभव के बदले यह आत्मा में काल की सीमितता को उत्पन्न करता है! इसके कारण, शाश्वत क्षणिक प्रतीत होता है! यह राग तत्व मितात्मा को भेदगत भोगों में अनुरंजित करता है![1]

इस कञ्चुक को अन्ताकरण के धर्मसुखानृशयी राग से सर्वया भिन्न समझना चाहिये!

रागोऽपि रंजयत्येन स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ! मा० वि० त० 1/28

---

10. काल

काल तत्व चिदात्मा के नित्यत्व स्वरूप का संकुचित कर उसको कालक्रमक में ग्रथित कर परिमित कर देता है! वह पूर्ण निव्यत्व भूत, भीविष्य तथा वर्तमान क्रम में आबद्ध हो जाता है तथा इसी के अनुसार अनुभव भी होता है! इस प्रकार कोई वस्तु पहले और कोई पीछे ओर कोई अनन्तर अवभासित होने लगती है! इस प्रकार के पौर्वापर्य का क्रम "काल" कहलाता है![1] इस क्रमरूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति ही "काल शक्ति" कही जाती है![2] मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ अथवा अमुक वस्तु मुझे पूर्वज्ञात थी, जानता हूँ तथा जानूंगा आदि नाना प्रकार की कल्पनाएं काल तत्व के द्वारा ही हुआ करती है! अर्थात परमेश्वर की नियति शक्ति कालतत्व से सकुंचित होकर जन्म मृत्यु प्रदान से जीव को अनित्य तथा सीमित करता है! यह काल सूर्य चन्द्र की गति से क्षण, धटिका, मास, वर्ष, युग कल्प के रूप में वांटा गया है!

11. नियतितत्व

नियति तत्व परम स्वातन्त्र्य एवं व्यापकव्व को सीमित कर एक निश्चित् नियमिततता का प्रसार करता है! इसके अनुसार एक निश्चित् कारण से ही निश्चित् कार्य की प्राप्ति हो सकती है, यथा अग्नि से ही धूम रूपी कार्य का निकलना हो सकता है! इस प्रकार जिस पुण्यापुण्य से आत्मा का नियमन होता है, वही इसका नियति तत्व है! नियति वह शक्ति है, जो विषयी की कारणात्मक क्षमता को सीमित करती है! यह सीमित कर्ता के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती है! विद्या और कला के द्वारा जीवात्मा कुछ वस्तुओं को जानने और करने में

1. क्रम एव च कालो! (ई० प्र० वि० भा० 2 पृ० 9)
2. सेयम् इत्यंभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवत् काल शक्तिः इत्युच्यते!" - (ई० प्र० वि० भा० 2 पृ० 13)

समर्थ होता है किन्तु किंचित् रूप समझे जाने वाले वेद्य अंशो के समान होने पर भी वह कुछ के प्रति ही क्यों उन्मुख होता है और अन्य के प्रति उन्मुखता क्यों नहीं होती! विद्या और कला का नियमन राग करता है और राग का यह नियमन नियति करती है! नियति के नियमों के अनुसार ही जीव में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है![1] यह मूलतः सवकी नियामिका है! इसी के नियम के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मो के फल को भोगने के लिए बाध्क बना रहता है!

12. पुरूषतत्व

जब परमतत्व माया और इसके कञ्चुकों के प्रभाव से सीमित विषयी का रूप ग्रहण कर संसारी हो जाता है, इसे पुरूष कहा जाता है! परमंशिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से अपने परिपूर्ण स्वभाव् को छिपाकर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को भूल जाने की कल्पना कर डालता है और ऐसा होने पर अपने आपको अगणित अल्पज्ञ और अल्पकर्ता जीवों के रूप में प्रकट कर देता है![2] शिव का अपने स्वातन्त्र्य भाव से परिगृहीत यह परिमित भाव ही पुरूष तत्व है![3] इस अवस्था में आत्मा सीमित हो जाता है और अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है! पाँच सर्वोच्च मूल शक्तियाँ चित्, आनन्द आदि के स्थान पर आत्मा अव कला विद्या आदि गुणों को ग्रहण करता है, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को छिपाते हैं! पुरूष तत्वतः शिव ही है, किन्तु

1. नियतिः ममेदं कर्तव्यं इतिनियमन हेतुः! - (प० प्रा० पृ० 9)
2. पर एव प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वरूपगोपयित्वायदासंकुचितात्मताय व भासयति तदा सकल एवायं भेदव्यवहार समुल्लसेत! तं० लो० टी० भा० 6 पृ० 156
3. मायाग्रहीत संकोचः शिवः पुस्तत्वमुच्यते"! अ० प्र० प० शि० श्लो० 22

माया के विरोधानकारी प्रभाव से अपने स्वरूप को भूलकर परिमित जीव वन जाता है! इस प्रकार अज्ञानवश अपने को बन्धन में डाल लेता है! जब तक उसे शिव-भाव के स्वातन्त्र्य का वोध नहीं होता तब तक वह अनेकानेक जीव यानियों में संचरण करता हुआ कर्मो के अनुसार सुख-दुःख आदि को भोगता रहता है![1] आत्मस्वभाव की पूर्णता की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है![2] पुरूष में मल और षट् कञ्चुकं मानना काश्मीर शैव दर्शन की अपनी विशेषता है, जो साँख्य में नही है! सांख्य की दृष्टि में असंख्य स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ताएं है, परन्तु काश्मीर शेव दर्शन के अनुसार पुरूष परमसत्ता के आभास हैं!

13. प्रकृति तत्व

परमशिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अविभक्त सामान्य रूप है उसे प्रकृति तत्व कहा जाता है! यह तत्व सत्व, रजस्, और तमस् की सम्यावस्था है! महत् तत्व से लेकर पृथिवी तत्व पर्यन्त सभी तत्वों का मूल कारण प्रकृति तत्व है पुरूष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है, परन्तु वास्तव में दोनो एक ही हैं! दोनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है! जिस प्रकार पुरूष जगद-उन्मेष रूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर का आत्म-आभास है उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्यकल्पना है![3] काश्मीर शेव दर्शन

1. परिमितात्मा स स्वात्मैश्वयमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिषु" - (प० त्रि० त० सं० वि, पृ० 5)
2. स्वशक्त्यभित्यक्तता मोक्षः"! (प० सा० का० 60)
3. इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं - यत- स्व स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति! (त० आ० वि० भा० पृ० 209)

और सांख्य, दोनो ही दर्शनों में प्रकृति को सत्त्व, रज और तम की अक्षुब्ध दशा माना गया है और इसके परिणामभूत सम्पूर्ण प्रमेयों को सुख-दुःख और मोहात्मक माना गया है![1] सत् रज और तम, ये तीनों जगत् की भेदावस्था में परमेश्वर की क्रमशः ज्ञान, क्रिया और माया शक्ति की संकुचित अभिव्यक्तियां है![2] काश्मीर शेव दर्शन में प्रकृति स्वयमेव विक्षुब्ध नहीं होती! प्रकृति तो भगवान् अनन्तनाथ पुरूषों के कर्मो के आधार पर उन्हे सुख दुःख का अनुभव कराने के लिए क्षुब्ध करते हैं![3]

सांख्य दर्शन में असंख्य पुरूषो की प्रकृति एक है! परन्तु काश्मीर शेव दर्शन में प्रकृति भी अनेक है! प्रव्येक पुरूष के लिए पृथक् पृथक प्रकृति है![4]

14. वुद्धितत्व

मूल प्रकृति में क्षोभ के फलस्वरूप गुणों में विषमता आ जाती है! अपने परिणाम क्रम में प्रकृति सर्वप्रथम अन्तःकरण के रूप में प्रकट होती है! अन्तःकरणों में सबसे पहले सत्वगुण प्रधान महत् तत्व प्रकट होता है! इसी तत्व को वुद्धि तत्व कहा जाता है! यह एक स्वच्छ जड़ तत्व होता है! अपनी स्वच्छता के प्रभाव से यह अग्रिम सृष्टि में सन्निहित वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को धारण कर सकता है! प्रमाता के प्रतिबिम्व को धारण करने से यह चेतन जैसा प्रतीत होने लगती है और चेतन की तरह काम करने लगती है! यह अपने भीतर प्रतिबिम्बित विषय को पुरूष के प्रति प्रकाशित करती है! बुद्धि ही प्रतिबिम्बित बिषय के नाम रूप की

1. तावदेंष एवं सुख-दुःख मोहात्मकं भोग्यविशेषानुस्यूतस्यसामान्य मात्रस्य तद्गुण सामान्यापरमान्नः प्रकृतितत्वस्य सर्गः! (तं० सा० पृ० 83)
2. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञान क्रिया च या!
   मायातृतीयं त एव पशोः सत्वरजस्तमः!! - (ई० प्र० वि० 4-1-4)
3. भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृति क्षोभयेदकृशम!" तं० आ०, 6, 9-225
4. "तच्चप्रति पुंनियतत्र्वात् अनेकयः"! तं० आ० टी० 6, पृ० 172

कल्पना करती है! प्रमेय को प्रकाशित और नाम रूप की कल्पना करके यह ज्ञान का साधन बनती है! बुद्धि ही पुरूष का सबसे प्रधान और निकटतम करण तत्व है!

बुद्धि इस स्थूल सृष्टि में पुषूप के शरीर के अन्तः अथति भीतर रह कर ही कार्य करती है! अतः इसे अन्तः करण कहा करते हैं! यह बाहर के विषयों को चक्षु आदि बाहृय करणों की सहायता के विना प्रकट नहीं कर सकती! इसलिए भी यह बाहृय करण न होकर एक अन्तः करण ही होता है।! इसके बिना पुरूष प्रमेय के प्रति किसी भी व्यवहार को कर ही नहीं सकता!

15. अहंकार

"यह मेरा है" ये मेरा नहीं मैं हूँ, इस प्रकार का साधन अहंकार तत्व है! अहंकार बुद्धि पर आत्मा के अध्यारोपण के कारण पैदा होता है और इस प्रकार बुद्धि का एक उत्पादन है! विषय के प्रतिविम्ब के सविकल्प या निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध रखने वाली इसकी शक्ति अहंकार कहलाती है! निश्चित या अनिश्चित दोनों प्रकार के प्रतिबिम्ब बुद्धि दर्पण में पड़े रहते हैं, परन्तु अहंकार के प्रभाव से जीव यह संमझता है कि इन्हें मैं जानता हूँ! इसी प्रकार से बुद्धि या शरीर या प्राण की क्रियाओं के विषय में जीव को यह अभिमान होता रहता है कि मैं करता हूँ अथवा शरीर या प्राण को वह समझने लगता है कि "मैं हूँ"! यह भी एक अन्तः करण तत्व है!

यह भी "अहम" ही है, पर "पुर्णअहम" स्वाभाविक है, और बुद्धि का विकास यह अहम् कृत्रिम है! इसे रजोगुणप्रधान कहा गया है! इसीलिए इसका नाम अहंकार है! मन और बुद्धि का स्फुट व्यवहार जाग्रत और स्वप्नावस्था तक ही रहता है किन्तु अहं की गति सुषुप्ति तक रहती है!

16 मनसतत्व

"करू" या न करू इस प्रकार सकंल्प और विकल्प का कारण 'मन' है! मनस् अहंकार का उत्पादन है! यह जीव की 'मनन' शक्ति है! विषय ज्ञान के सन्दर्भ में जब इन्द्रियों द्वारा चित्त पर विषय का प्रतिबिम्व पड़ जाता है, तो सर्वप्रथम किसी वस्तु के होने का आभास मात्र होता है! उस क्षण में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु क्या है! इस प्रकार वस्तुत्व का आभास तो बुद्धि द्वारा हो जाता है, परन्तु बस्तु के स्पष्ट और निश्चित् नाम रूप की कल्पना नहीं हो सकती! इस प्रकार की अवस्था में मन वस्तु के विषय में अनेकों सम्भाव्यमान नाम-रूपों की कल्पना करता है! इस कल्पना की कर्त्ती शक्ति को 'मन' कहते हैं! यह भी एक अन्तःकरण है! सक्षेप में मन आन्तरविषयों का ज्ञान स्वतत्रं रूप से तथा बाह्य विषयों का ज्ञान इन्द्रियों के सहयोग से करता है!

17-21 पाचं ज्ञानेन्द्रियां

अहंकार के और परिणित होने पर पाचं ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है! ये ज्ञानेन्द्रियां पुरूष की अशुद्ध विद्या की सहायक कही गयी है! पुरूष के संकुचित ज्ञान सामर्थ्य को उसकी अशुद्ध विद्या कहा गया है! ये ज्ञानेद्रियां पुरुष की भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमतायें हैं, जो उसके भिन्न व्यवहारों की साधन बनती है! प्रकृति त्रिगुणात्मक है! फलतः अहंकार भी त्रिगुणत्मक ही है! इसी त्रिगुणात्मक अहंकार के सत्व अशं से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं! श्रोत्र, त्वक, अक्षि रसना तथा ध्राण आदि वुद्धि इन्द्रियाँ है!1

1. श्रोत

शब्द और समस्त शबदात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता हुआ उसे बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करता है! श्रोत पुरूष के सुनने की क्षमता को कहते हैं! यह स्थूल शरीर में कान के छिद्र में स्थित होता है!

श्रोत्रं त्वगक्षि रसना धार्ण बुद्धि इन्द्रियाणि! पार० सा० पृ० 11/20

2. <u>त्वक्</u>

शीत उष्ण नर्म कठोर आदि स्पर्शो को जानने की पुरूष की क्षमता को त्वक् या त्वचा कहते हैं! यह इद्रिय स्थूल शरीर के सारे अङ्गो में रहती है!

3. <u>चक्षु</u>

रूप वर्ण, आकार आदि जानने की पुरूष की क्षमता को अथवा साधन को चक्षु करते हैं! यह इन्द्रिय स्थूल शरीर के आंखें में स्थित रहती है!

4. <u>रसन</u>

स्वाद को जानने वाली इन्द्रिय को रसना इन्द्रिय कहा जाता है! स्थूल शरीर में इसका स्थान जीभ के अगले भाग में होता है!

5. <u>घ्राण</u>

गन्ध को जान लेने के पुरूष के ज्ञान साधन को घ्राण इन्द्रिय कहते हैं! शरीर में यह इन्द्रिय नाक के छिद्रों के मुख पर स्थित होती है!

ये पाँचो इन्द्रियां विषयों के प्रतिबिम्बो को लेकर बुद्धि के दर्पण में डाल देती हैं! ये इन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीरों में रहती हैं, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में भी रहता हुआ जीव सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है!

22-26 <u>पाचँ कर्मेन्द्रियाँ</u>

पुरूष की कला में उपयुक्त होने वाली उसकी इन्द्रियां कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं! इन कर्मेन्द्रियों के सहारे ही पुरूष किसी कार्य को करने में समर्थ होता है! कर्मेन्द्रियों में रजस् गुण निहित होता है!वाक्, पाणि, पाद, पायु उपस्थ ये कर्मेन्द्रियां हैं!

वाक्पाणिपादपायूपस्थं कर्मेन्द्रियाणि! पार० सा० पृ०

---

1. <u>वाक्</u>

पुरूष के वोलने का साधन वाक् है! स्थूल शरीर में यह जीव के मुख में रहती हैं! इस वाक् की अभिव्यक्ति प्राणवायु के आधार से होती है!

2. <u>पाणि</u>

ग्रहण करने की इन्द्रिय को पाणि इन्द्रिय कहा जाता है! स्थूल शरीर में इसका स्थान हस्त है!

3. <u>पाद</u>

आने-जाने अथवा चलने-फिरने की क्रियाओं का साधन पादेन्द्रिय है! इसका मुख्य स्थान पैर है, परन्तु पादहित व्यक्तियों के अन्य अङ्गों में यह सामर्थ्य होती है!

4. <u>पायु</u>

विसर्जन की क्रिया का साधन इन्द्रिय पायु कहलाती! इसका मुख्य स्थान गुद्दा होता है!

5. <u>उपस्थ</u>

विषय आनन्द को अभिव्यक्त करने की क्रिया का स्थान उपस्थ है! इसका मुख्य स्थान जननेन्द्रिय होता है!

ये कर्मेन्द्रियाँ स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर में भी अधिष्ठित होती हैं! ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ भी जीव कला के सभी व्यपारों को कर सकता है!

27-31 <u>पचंतन्मात्राए</u>

तमोगुण प्रधान अहंकार के परिणमस्वरूप ज्ञानेन्द्रियों के पांच सूक्ष्मविषयों की अभिव्यक्ति होती है! ये विषय अत्यन्त सूक्ष्म होते है! ये सर्वथा प्रविभाग से रहित सूदमतर विषयमात्र होते है! शब्द स्पार्श, रूप, रस, गन्ध कहते है! प्रत्येक में अपने को छोड़कर अन्य कुछ नहीं रहता है इसलिए उन्हे तन्मात्राएं कहा जाता है! ये भी द्रव्य हैं किन्तु सामान्य जन के अनुभव से परे हैं!

---

1. एषां ग्राह्यो विषयः सूक्ष्मः प्रविभागवर्जितो यः स्यात्!
तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्दः स्पर्शो महो रसो गन्धः!! पार० सा० पृ० का०, 21

31-36 पंचमहाभूत

ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म विषय तन्मत्राओं के आपसी सम्पर्क से स्थूल विषय बन जाते हैं, तो आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी नामक स्थूल पंच महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है![1] आकंाश का गुण शब्द है! इसी महाभूत के भीतर शब्द की तरङ् मे चलती है! वायुस्पर्श गुण प्रधान है, अग्नि रूप प्रधान और पृथ्वी गन्घ प्रधान है! आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त क्रम से स्थूलता अधिक होती है!

उपर्युक्त तेईस तत्वों । प्रकृति से पृथ्वी तक । के विकास के विषय में काश्मीर शैव दर्शन और सांख्य में सहमति है! अन्तर केवल इतना ही है! कि सांख्य के अनुसार ये तत्व प्रकृति के विकास हे, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ये तत्व प्रकृति का विकास होते हुए भी अन्ततः परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ है! काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि के सभी तत्व परमशिव की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप ही है! इनका अलग से अपना कोई अस्तित्व नहीं होता!

बन्धन

शैवदर्शन की दृष्टि में सव कुछ स्वयं परमेश्वर है! विद्या-अविद्या, द्वैत-अद्वैत, बन्धन-मोक्ष आदि की कल्पना केवल व्यवहारिक है! यह द्वन्द तथा अन्य आभासों का व्यवहार उस परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का विलासमात्र है!

जीव का बन्धन जन्मजात अख्याति या अविद्या के कारण है! यह अविद्या जीव का आणव मल है जिसके द्वारा सर्वव्यापी चैतन्य एक अणु या परिसीमित दशा में आ जाता है! यह दशा उसकी इच्छाशक्ति के संकोच के कारण होती है! इसी अविद्या के कारण जीव अपने को उस सर्वव्यापी चैतन्य से पृथक् अल्पज्ञानक्रिया शक्ति से युक्त समझता है!

पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः!
अभेदोत्तरपक्षान्तनर्थिति तं स्तुमः शिवम्!! - ई० प्र० वि०

वन्धन का लक्षण अज्ञान है! यह अज्ञानज्ञान भाव नहीं अपितु ज्ञान का संकोच है! इस अज्ञान के दो आश्रय होते हैं जिनके कारण यह अज्ञान दो प्रकार का होता है! प्रथम तो आणव आदि मलों का पात्रभूत यह पुरूष या जीव होता है! यह मल ही उस जीव का अज्ञान होता है! अज्ञान का दूसरा आश्रय होता है- पुरूष की बुद्धि! पौरूष अज्ञान से प्रभावित जीव की बुद्धि ज्ञानसंकोच का आश्रय बनकर तदनुसार ही अशुद्ध विकल्पों की कल्पना करती रहती हैं! वस्तु को शिवरूप समझना शुद्ध विकल्प और प्रमेयरूप में समझना अशुद्ध विकल्प कहलाता है! अशुद्ध विकल्पों को करते रहने का यह स्वभाव पुरूष का बौद्ध अज्ञान है! वौद्ध अज्ञान समझ का अज्ञान है, पौरूष अज्ञान मूल अज्ञान है! मानव का सारा व्यवहार मूल अज्ञान के आधार पर होता है! बौद्ध अज्ञान या लैकिक दृष्टि से जिसे ज्ञान कहा जाता है केवल कहने सुनने, पढ़ने लिखने, समझने-समझाने आदि के काम आता है! ये दोनों प्रकार के अज्ञान वन्धन है!

आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता अथवा अज्ञान को वन्धन तथा फलस्वरूप उत्पन्न दुःख को बन्धन का लक्षण माना गया है! वास्तविकता से अनभिन्न जीव कर्म में लिप्त होता है, उसकी स्वाभाविक शक्तियों का ज्ञान होने से आत्मा असीम हो जाता है वह असीम अवस्था को ही अपनी सहज अथवा स्वाभविक अवस्था समझने लगता है)! अतः वास्तविक अवस्था की ओर जाना अथवा आत्मोपलब्धि ही मोक्ष कहा गया है! जिन कारणों से आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रति अनभिज्ञता है, उन कारणों के उन्मूलन से ही आत्मोपलब्धि भी हो सकती है! कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनों में सामान्य रूप से वन्धन का कारण अज्ञान माना गया है तथा मोक्ष का कारण ज्ञान अथवा अज्ञान का विनाश माना गया है! इस अज्ञान की व्याख्या में भारतीय दर्शनों में मतभेद पाया जाता है! इस मतभेद को तीन वर्गो में वाँटा गया है! कुछ दर्शन जैसे शैव सिद्धान्त, जैन आदि अज्ञान से आत्मा की ससिक्तता को अनीदि और वन्धन को सत्य मानते है! कुछ दर्शनों में अज्ञान से अत्पन्न वन्धन को मिथ्या आभासमात्र अथवा असत्य माना गया है, जो आत्मा पर अध्यारोपित मात्र है! तीसरे प्रकार में काश्मीर शैव दर्शन को निदिष्टि किया है जिसमें वन्धन का कारण अज्ञान है!

किन्तु यह आत्मा द्वारा लीला के लिए स्वेच्छा से गृहीत है!

वन्धन को आदि मानने से समस्या अत्पन्न होती है कि फिर उसका विनाश कैसे होता है, क्योंकि जो अनादि है उसका अन्त नहीं हो सकता! बन्धन को असत्य अथवा मिथ्या मानने से यह: प्रश्न उठता है असत्य बन्धन से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करने या कठोर आध्यात्मिक साधना की क्या आवश्यकता है! जो मिथ्या मात्र है अथवा वास्तविकता में है ही नहीं, उसके दूर होने का अर्थ क्या है?

सोमानदं अनुसार बन्धन स्वेच्छा से गृहीत है, किन्तु जब शिव बन्धन ग्रहण कर पशु वन जाता है, तो पशु की दृष्टि से वन्धन वास्तविक हो जाता है! शिव के लिए वन्धन लीला है, एवं पुनः बन्धन से मुक्ति पाना भी उसकी लीला का अङ्ग है, किन्तु जीव के लिए यह लीला नहीं है! इस अपूर्ण अथवा सीमित ज्ञानशक्ति के कारण वह अपने पूर्ण रूप को नहीं जानता अथवा उसे भूल जाता है! यह अपूर्ण ज्ञान ही काश्मीर शेव दर्शन में अज्ञान कहा जाता है! वेदान्ती अज्ञान को ज्ञान के विरोधी अर्थ में लेते हैं! उनके अनुसार अज्ञान और ज्ञान में तम और प्रकाश का सम्बन्ध है! काश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान को ज्ञान की सर्वथा अनुपस्थिति के अर्थ में नहीं लेते![1] उनके अनुसार इस प्रकार का अज्ञान केवल अचेतन पदार्थ में ही हो सकता है, चेतन में ज्ञान की सर्वथा अनुपस्थिति नहीं मानी जा सकती! अतः वद्धात्मा में होने वाला अज्ञान अपूर्ण ज्ञान अथवा सीमित ज्ञान ही कहा जा सकता है!

वन्धन केवल अपूर्णावस्था अथवा अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में है! आत्मा कर्म करता है तथा कर्म के फलस्वरूप उत्पन्न सुख दुःख को भोगता हुआ बन्धन में और जकड़ता जाता है!

परम-शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से स्वयं को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है तथा पशु रूप में अपनी पूर्णावस्था को भूलकर सीमित हो जाता है, किन्तु पशु रूप में स्पष्ट सीमित अवस्था में होने पर भी शिव रूप में वह शुद्ध पूर्ण वना रहता है! यह कहा जा सकता है कि शिव शुद्ध शिव है और पशु भूला हुआ शिव है! इस सीमित अथवा भूले हुए शिव को छत्तीस सृष्टि तत्वों की श्रृखंला में पुरूष कहा जाता है! पुरूष मूलता पूर्ण होने के अज्ञान से युक्त है! सीमितता के कारण विभिन्न शरीर, प्राणादि के संयोग होने के कारण अनेक पुरूष प्रतीत

1. (क) अज्ञानमिति न ज्ञानाभवश्चातिप्रसङ्गतः! - शि० दृ० वृ० पृ० 160
(ख) अभावोऽपि ज्ञायमानो वोधत्मैव तदात्मकत्वाच्च विश्वरूप एव!
तस्मान्नस्त्यभावात्मकमशिवरूप क्वचिदपि विश्वध्ये!!" - शि० दृ०, पृ० 160

होते हैं पुरूष स्वयं द्वारा सन्पादित कर्मो के फलों का भोक्ता है तथा इसलिए बधन्न में है!

सीमितता या वन्धन तत्व होता है, जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है! वन्धन रूपी द्वैत-ज्ञान का प्रादूर्भाव अशुद्धताओं के कारण होता है, जिसे काश्मीर शैव दर्शन में मल कहा है! आत्मा के साथ मल का संसर्गतब होता है जब आत्मा अशुद्ध सृष्टि के तत्वों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है! वास्तव में जीव नाना मलों से युक्त होकर वहु प्रकार के वन्धन में बन्ध कर बद्ध पशु संसारी कहलाता है! अर्थात् आत्मा के वास्तविक रूप से अनभिज्ञता हेतु पुनः पुनः मरण जीवन को प्राप्त होना वंधन है![1] द्वैत भावना से किये कर्म वन्धन का कारण होता हैं![2]

त्रिविधमल

जिस भूमिका में आत्मा के ज्ञान संकोच का स्फुट अविर्भाव हो जाता है उस भूर्मिका में वह संकोच मल कहलता है![3] यह मल या अज्ञान सूदमतर आकार में प्रकट होकर सृष्टि क्रम में आगे-आगे विकास को प्राप्त करता हुआ विकास की तीन भूमिकाओं में तीन मलों का रूप धारण करता है:-

आणवमल

पञ्चकञ्चुकों से लिप्त होने पर पञ्चकञ्चुकों के प्रभाव से आत्मा की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं! इनके प्रभाव से आत्मा स्वयं को सीमित अनुभव करने लगता है तथा उसमें आसक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है! जिसके फलस्वरूप द्वैत ज्ञान का उदय होने लगता है! पञ्चकञ्चुकों के स्तर तक चेतना का संयोग शरीरादि मायीय पदार्थो से नहीं हुआ करता! अतः इस स्तर तक बन्धन चैतसिक । मानसिक । ही कहा जा सकता है! शरीर आदि के संयोग न होने के कारण आत्मा कर्म आदि संपादित नहीं करता! अणु का अर्थ है छोटा या संकुचित! जब परमेश्वर अपनी पूर्णता और शुद्धसंवित्स्वरूपता को भूलकर संकुचित होता हुआ संकुचित वस्तु को ही अपना आप समझ बैठता है तो वह आणव मल से युक्त होता है! ज्ञान क्रिया के द्विविध संकोच से आणव मल भी दो प्रकार का है![4]

---

1. लोकव्यवहार कृतां य .... जन्म मृत्यु ...... बद्धा!! पार० सा० का० 34
2. परिभित बुद्धि त्वेत हि कर्मोचित भविदेध्भावनय सकुंचिता चितिरेतद् देहध्वसे तथा भवति! पार० सा० का० 63
3. चिद्वतच्छक्तिसंकोचात् मलावृत संसारी (प्रतिभिज्ञा,
4. स्वातन्त्र्यघमिर्षोधस्य .... स्वस्वरूपाप्रहानितः!! ई० प्र० 2.24
5. अपूर्णमन्यता आणवमंल (शि० सू० वि०

2. मायीयमल

द्वैतज्ञान अर्थात जब कोई प्रमाता अपने वास्तविक विलास की लीला के प्रभाव से संसार को परमेश्वर को तथा अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न समझने लगता है तब प्रमाता के भेदमय दृष्टिकोण का यह संकोच मायीय मल कहलाता है!1 यहाँ ध्यातत्य है कि जगत् को भिन्न देखना मल नहीं है, जगत् को भिन्न समझना मल है! इस द्वैत ज्ञान के कारण ही पशु का कर्म उसका स्पन्द न होकर उसका ऐच्छिक कर्म हो जाता है! वह जगत् को अपने से भिन्न समझता है तथा इसके फलस्वरूप उसमें आसक्ति का पादुर्भाव हो जाता है! यह आसक्ति ही उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करती है, जिससें पशु कर्म मल से भी संसिक्त होता जाता है! सामान्यतया मायीय तत्वों से युक्त होने पर तदुत्पन्न अशुद्धता को मायीय मल कहा जाता है!

3. कार्म मल

संकोच विकास के कारण जीव को जब अपने किये गये विशेष कर्मो के प्रति अपनी कर्तृता का अभिमान हुआ करता है फिर उन कर्मो के संस्कार का भी वह पात्र वना रहता है उससे उसमें परिमित कर्मो की वासनायें भी छायी रहती हैं और ये वासनाये उसे भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने को बाध्य करती हुई संसार के चक्कर में फसाये रखती है तो यह संकुचितकर्तृव्य का अभिमान तथा यह कर्मवासना जीव का कार्म मल कहलाता है![2]

सामान्यतया सभी भारतीय दर्शनों मे । चावकि को छोड़कर । कर्म को मल रूप अथवा बन्धनस्वरूप माना गया है! कर्म को वन्धनस्वरूप मानने का कारण एक यह है कि इससे प्राणी कर्म नियम के वन्धन में पड़ जाता है, जिसके अनुसार वह जो भी कर्म करेगा उसका फल उसे अवश्य ही भोगना होगा! दूसरा कारण यह है कि कर्म से आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर आवरण - सा पड़ जाता है!

इन मतों को अज्ञान रूप कहा जाता है जो जीव को अवेष्टित किये रहते हैं!

---

1. अभिन्नवेद्याप्रथा - (शि० सू० वि०,
2. शुमाशुभवासनात्मकविविधज्ञानरूपमुक्तम् (शि० सू० वि०

मोक्ष

अपूर्व ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता वन्धन है तथा पूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना ही मोक्ष है! मोक्ष का कोई निश्चित् स्थान नहीं द्वादशान्त आदि धारणादेश में जाना मोक्ष है! सत्य तो यह है कि अज्ञान रूपी गंठी कटने से चिदान्द आदि शक्तियों का प्रकट होना ही मोक्ष कहलाता है![1]

द्वैत सम्बथी भ्रम, मिटने अज्ञानरूपी गुत्थी सुलझने, आत्मानात्म सम्बथी सशंय मिट जाने से पुण्य पाप समाप्त हो जाते है जिससे शरीर धारण करते हुए भी जीव मुक्त अवस्था में रहता![2]

आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सच्चिदानन्द रूप, असीम, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है, किन्तु वन्धन के कारण अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण उसे अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है! फलतः वह अपने को असीम समझने लगता है पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होना या अपने वास्तविक पूर्ण शक्तियों को जानना "मोक्ष" है! जिसका स्वभाव सम्यक् ज्ञान शिवत्व का पूर्ण ज्ञान या शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का पूर्ण परिज्ञान ही है!

अभिनवकृत परमार्थसार की टीकाकार प्रभादेवी ने मोक्ष की तुलना उस भुने हुए बीज के समान की है जिसके जल जाने से शाली उसी प्रकार नहीं उगता जिस प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि से जला हुआ शुभाशुभ कर्म जन्म मरण बन्धन का कारण नहीं वनता![3]

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में स्वरूप-प्रथन को ही मोक्ष कहा है,[4]

1. मोक्षस्य नैव ....स्वशक्त्यभिव्यक्त मोक्षः (पार० सा० का०, 60)
2. भिन्नज्ञानग्रन्यि .... विग्रहयोगेऽप्यसै मुक्तः - (पार० सा० का० 61)
3. अग्न्यभिदग्धं .... जन्मप्रदंभबति - (तदेव, का० 62)
4. मोक्षे हिं नाम नैवन्यः स्वरूपप्रथन हि ततू! (तं० आ०)

स्वरूप प्रथन का अर्थ है कि शिव के यथार्थ रूप, स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न रूप की प्रतीति! इस स्वरूप-प्रथन की दशा में प्रमाता अपने को शरीर, मन, बुद्धि, प्राण से उतीर्ण शुद्ध प्रकाश विमर्श रूप संवित् अनुभव करता है! काश्मीर शेव दर्शन के अनुसार मोक्ष पूर्णता की स्थिति है! मोक्ष में आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप स्वयं शिव हो जाता है! इस स्थिति में भेद ज्ञान अथवा द्वैतज्ञान अभेद ज्ञान या अद्वैन ज्ञान में परिणत हो जाता है! आत्मा यह जानने लगता है कि सारा विश्व उसका ही विभव है![1]

अद्वैव-वेदान्त में मोक्ष की अवस्था में आत्मा से इतंर समझी जाने वाली वस्तुओं का निषेद किया जाता है! आत्मा से भिन्न जगत् आदि को मिथ्या मान लिया जाता है! काश्मीर शैव दार्शनिक मुक्ति की अवस्था में आत्मा को भिन्न समझी जाने वाली वस्तुओं का निषेध नहीं करते, प्रव्युत उन्हे आत्मरूप ही मानते हैं! जगत् आदि वस्तुओं को अपने से भिन्न समझना ही वन्धन है तथा उन्हे अपने से अभिन्न समझना मोक्ष है! मोक्ष शक्तियों के पूर्ण प्रकाशन की स्थिति है! बद्धावस्था में आत्मा की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं! मुक्तावस्था शिवावस्था है, पूर्णाहं की स्थिति है! शिवावस्था मे आत्मा स्वयं शिव हो जाता है![2]

<u>उपाय</u>

मोक्ष प्राप्ति के चार साधन स्वीकार किये गए हैं-

1. अनुपाय, 2. शाम्भवोपाय 3. शाक्तोपय 4. आणवोपाय इन उपायों द्वारा साधक क्रमिक रूप से मोक्ष की तरफ अग्रसर करता है! शिव सृष्टि-प्रक्रिया में अवतीर्ण होकर जब बद्ध रूप ग्रहण करता है तो वह । चिता । पहले आन्नद शक्ति को अभिव्यक्त करता है, करता है! शाक्तोपाय ज्ञान शक्ति को प्रकाशित करता है, शाम्भवोपाय इच्छा शक्ति को प्रकाशित करता है तथा अनुपाय आनन्द शक्ति को प्रकाशित करता है!

---

1. स्वाशक्तिप्रचयतेऽस्य विश्वम्! - (शि० सू० श्लोक० 3/30)
2. "शिवतुल्यो जायते"! - (शि० सू० श्लो० 3/26)

किन्तु अपूर्णावस्था से पूर्णावस्था की ओर अतिक्रमण करने में वह पहले क्रिया शक्ति को, फिर ज्ञान शक्ति को तथा उसके वाद इच्छा शक्ति को और अन्त में आनन्द शक्ति के पूर्णरूपेण प्रकाशित हों जाने पर वह पुनः शिव । चित् । के रूप में प्रकाशमान हो जाता है! मोक्ष प्राप्ति के ये चार उपाय इसी क्रम की और सकेंत करते है! आणवो-पाय क्रिया शक्ति को प्रकाशित काश्मीर शैव दर्शन में साधना के विभिन्न क्रमिक स्तरों के रूप में इन चार उपायों को वताया गया है! वन्धन अथवा मल की दृष्टि से विचार करने पर भी साधनाओं का स्तर भेद आवश्यक प्रतीत होता है! वन्धन शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक है! शारीरिक वन्धन के लिए आणवोपाय तथा मानासिक वन्धन के लिए शाम्भोपाय बताया गया है!

1. अनुपाय

काश्मीर शैव दर्शन में सर्वोतकृष्ट साधकों के लिए अनुपाय का निदेश है![1] इससे तात्पर्य है - सहजोपयाय! इसीलिए इसको आनन्दोपाय अथवा अनुत्तरोपांय भी कहते हैं! सिद्धगुरू अथवा स्वयं शिव के अनुग्रह, शक्तिपात, संस्पर्श अथवा दर्शनदि मात्र से योग्य साधक को अपने शिवरूप का ज्ञान हो जाता है! अतः इसमें आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है!

2. शाम्भोपाय

शाम्भवोपाय अथवा इच्छोपाय द्वारा इच्छाशक्ति के प्रयोग से आत्मानुभूति के लिए प्रयास किया जाता है! साधना के इस स्तर पर इच्छा शक्ति का अन्य शक्तियों पर प्राधान्य होता है! इस स्तर पर साधना के बाह्य रूपों यथा उपासना आदि को महत्वपूर्ण नहीं माना गया है! यह साधना का आध्यात्मिक स्तर है! जहाँ अशुद्ध अहं का समर्पण किया जाता है तथा सर्वाहं भावं का अभ्यास किया जाता है![2]

---

1. मलिनी विजय अनुसार निर्विकल्प भाव से स्वात्मस्थिति द्वारा होने वाला समावेश शाम्भव समावेश कहलाता है! (शाम्भवोपायः) एव परां काष्ठं प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते (शि० सू० Ta. K_1 -142)
2. (क) निर्विकल्पे परामर्शे शाम्भवोपायनामनि (त० ओ० 3/274)
   (ख) अंकिंच्चिन्तकस्यैव गुरूणा प्रतिवोधतः, जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः (शि० सू०)

---

3. शाक्तोपाय

शाक्तोपाय अथवा ज्ञानोपमाय क्रियोपाय से उच्चतर मार्ग है! इस मार्ग में साधक द्वैत-ज्ञान से अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है! इस प्रयास में साधक आत्मज्ञान के लिए "आत्मा ही सव कुछ है" का अभ्यास करता है! इस ज्ञान के बार-बार के अभ्यास द्वारा साधक विकल्पों पर नियन्त्रण पा लेता है तथा उसका अद्वैत-ज्ञान दृढ़तर हो जाता है![1] यहाँ ज्ञान का ही प्राधान्य होने से इस मार्ग को ज्ञानोयाय कहते हैं! इस शैवी साधना में बिना किसी उच्चारादि माध्यमों के शुद्ध चित्त द्वारा परमतत्व का चिन्तन किया है![2] मालिनी विजय अनुसार इस प्रकार से होने वाला समावेश शाक्त समावेश कहा जाता है!

4. आणवोपाय

आणवोपाय अथवा क्रियोपाय वह मार्ग है, जिसमें साधना के बाह्य रूपों का प्रयोग आत्मानुमूति के लिए किया जाता है![3] उपासना के वाह्य रूप अथवा स्थूल रूप का प्रयोग इस मार्ग में किया जाता है! इस मार्ग के मुख्य कार्य मूर्ति पूजा तथा मन्त्रों का जप, पाठ, तीर्थटन, योग इत्यादि हैं! मन्त्रों के जप को इस मार्ग में विशेष स्थान प्रदान किया गया है यह मार्ग साधना पथ का प्रथम चरण है! विषयों से प्रभावित व्यक्ति इस मार्ग की तरफ चलते हैं! क्रिया प्रधान होने से इसे कर्म योग कहा जाता है!

---

1. भूयो भूयो विकल्पाशनिश्चयक्रमचर्चनात्
   यत्परामर्श ज्ञानोपयं तु तद्विदु:!! (त० आ० 1/148)
2. उच्चाररहितं वस्तु चैतसैव विचिन्तयन, यं समावेशमाप्नोति शाक्त: सोऽत्राभिधीयते - (शि० सू० II 22)
3. अणुर्नाम स्फुटो भेदस्तदुपाय इहाणव:!
   विकल्पनिश्चयात्मैव पर्यन्तेनिर्विकल्पक:!! - (तं० आ० 1/221)

इस मार्ग को क्रियोपाय कहने का कारण यह भी है कि यह सद्विद्या स्तर की साधना है जो क्रियाशिक्ति की अभिव्यक्ति का स्तर है! मालिनीविजय वार्तिक के अनुसार अच्चार करण, ध्यान वर्ण और स्थानप्रकल्पना की विधि से होने वाला समावेश आणव समकावेश कहलाता है![4]

कर्म भक्ति तथा ज्ञान की दृष्टि से आणवोपाय कर्म मार्ग अथवा कर्म योग है, शाक्तोपाय ज्ञान मार्ग है तथा शाम्भवोपाय भक्ति मार्ग है! योग की दृष्टि से आणवोपाय हठयोग है, शाक्तोपाय राजयोग है तथा शाम्भवोपाय अध्यात्मयोग है! आणवोपाय को हाठयोग इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें योग की बाहृय शारीरिक क्रियाएं यथा यम, नियम, आसन, प्राणयाम आदि की जाती है! शाक्तोपाय राजयोग है, क्योकि इसमें योग की मानसिक क्रियाएं ध्यान मनन, भावना, मन्त्र आदि का अभ्यास किया जाता है तथा शाम्भवोपाय को अध्यात्मयोग इसलिए कहा जाता है, क्योकिं इसमें योग की आध्यात्मिक साधनाएं यथा समाधि द्वारा पूर्णाहम् से एकाकार हो जाता है!

शक्तिपात

परमशिव ज्ञाता है कि किस प्राणी को किस समय किस प्रकार के साधन मार्ग द्वारा कितनी तीव्र गति से चरमलक्ष्य की ओर चलकर अन्तिम छोर पर पहुँचना है! अतः वे जिसको जैसी अन्तःप्रेरणा देते हैं वह वैसे ही चलता है! परमशिव द्वारा दी गई इस अन्तःप्रेरणा को शक्तिपात कहते है!

मालिन्य से रहित दर्पण में सामान्य रूपादि गुण से युक्त मुख चमकता है! कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसे निर्मल दर्पण न स्वीकारता हो! परन्तु मैले दर्पण में मुह चाहे दूसरो से कितना भी अच्छा हो दपर्ण की मलिनता के कारण टेढ़ा ही दिखता है! मलिनदर्पण मुख के

उच्चार करणध्यान वर्णस्थानप्रकल्पनैः

योभणेत्तु समावेशः साम्यगाणव उत्त्यते! (शि० सू० II 21)

गुण सौर्न्दयादि को नहीं स्वीकार कर पाता, प्रत्युत जिसका मुख प्रतिबिम्बित होता है, वह व्यक्ति मुंह की मलिनता आदि से अपने को युक्त पाकर खुद लजाता है! इसी प्रकार शिव की यह जो आत्मस्वरूपिणि अनुग्रहशक्ति है उसकी किरणों के स्फार से आणव, मायीय तथा कार्ममलों की वासना के प्रक्षीण होने से विमलीकृत प्रतिभा (वुद्धि) रूपी मुकुर में प्रकाशस्वरूप तथा सर्वज्ञत्वादि गुण गणो से युक्त आत्मा इस रूप में प्रकाश मान होता है कि वे आत्मस्वरूप के प्रकाश से ससांर के वीच में रहते हुयें भी मुक्त के समान तथा वैशिष्ट्ये से संम्पन्न होते हैं! अतः निर्मल दर्पण में जिस प्रकार मुख चमकता है या स्पष्ट दिखाई देता है उसी प्रकार प्रकाशस्वरूप (महेश्वर) शिव के शक्तिपात से विमल वुद्धितत्व में प्रकाशित होता है!

कुछ प्रमाता ऐसे भी होते हैं जिनके परमेश्वर की तिरोधानशक्ति के द्वारा आणव, मायीय, तथा कार्म मलों से आच्छादित वुद्धितत्व में प्रकाशस्वरूप आत्मा भासित होने पर भी अनभासित सा रहता है जिससे उन्हे सांसरिक और पशु कहा जाता है! कुछ ऐसे प्रमाता होते है जो दोनों (परमेश्वर की अनुग्रह तथा तिरोधान) शक्तियों के योग से साधना पथ पर आरूढ़ होने की इच्छा रखते हैं! इस प्रकार परमेश्वर का शक्तिपात तीव्र, मंन्द, मन्दतर आदि अनेक भेदों से विचित्र है इसकी कल्पना की जा सकती है! इस दर्शन के अनुसार माया के क्षेत्र में आनेवाली नियति शक्ति द्वारा नियमित अश्वमेघादि या जप ध्यानादि या और किसी कर्म को आत्ममुक्ति का कारंण नहीं माना गया है! आत्मा माया के क्षेत्र से परे है अतः उस (माया) के अन्तर्गत आनेवाला कोई भी भेद प्रमुख साधन आत्ममुक्ति का साधन नहीं वन सकता! गीता

1. आदर्शे मलरहिते यद्वद् वदनं विभाति तद्वद् अयम्!

शिव शक्तिपातविमले धीतत्वे भाति भावरूपः!! (पर० सा० का० 9)

में भी कहा "न वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञ से देख जा सकता हूँ!"[1]

अस्तु, एकमात्र परमेश्वर का अनुग्रह ही भव्यवुद्धि साधकों के लिये मुक्तिका स्वाभाविक साधन है -

ईश्वर के शक्तिपात में (उस परमेश्वर की) स्वतन्त्रता का उद्घोष करने वाली बुद्धि को जो (स्वयं परमेश्वर के) कर्तृतव से संस्पृष्ट होती है, और किसी की अपेक्षा नहीं होती!

कर्मादि से निंरपेक्ष शिव की अनुग्रहात्मक अन्तःप्रेरणा ही शक्तिपात कहलता है जो प्रमाता की शिव की भक्ति एवं मुक्ति लिए प्रवृत्त करता है तथा उसके स्वरूप का उन्मीलन करता है!

शक्तिपात के मुख्यतया तीन भेद होते हैं : तीव्र मध्य और मन्द! जो जीव पूर्वजन्म के संस्कारवश उन्नत अवस्था को प्राप्त हुए रहते हैं वे तीव्र शक्तिपात के अधिकारी होते है! उन्हे विना किसी साधना के मोक्षलाभ हो जाता है! जो जीव अपेक्षाकृत कम विकसित होते हैं वे मध्य शक्तिपात के पात्र होते है! मोक्ष के लिए उन्हें किसी गुरू की आवश्यकता होती है! उस गुरू से दीक्षा प्राप्त कर वे साधक साधना करते हैं और उचित समय पर मुक्त हो जाते है! जो जीव सबसे कम विकसित होते हैं

उनके ऊपर मन्द शक्तिपात होता है! इस शक्तिपात से उनके अन्दर आध्यात्मिक मार्ग, साधना और मोक्षलाभ के लिये उत्कण्ठा जाग्रत होती है और वे भी साधना द्वारा इस जन्म या जन्मान्तर में मोक्ष प्राप्त कर लेते है!

उक्त तीनों शक्तिपातों में प्रत्येक के तीन भेद है तीव्र के तीव्र तीव्र, मध्यतीव्र और मन्द तीव्र! इसी प्रक्रार मध्य और मन्द के तीन तीन भेद है! ये भेद आश्रय या अधिकारी के सामर्थ्य भेद से होते हैं! निष्काम पर शक्तिपात "पर" और सकाम पर शक्तिपात "अपर" कहलाता है! इस प्रकार कुल नव भेद हुए! इन नव प्रकार के शक्तिपातो में भी प्रत्येक की गति त्वरित मध्य और मन्द होती है! अतः गतिभेद के कारण शक्तिपात के सत्ताईस भेद हो जाते है! फिर उनमें भी अनन्त प्रकार का वेचित्र्य होता है तभी इस संसार की लीला अतिविचित्र है! सिद्धान्तः यह समझना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी किसी न किसी शक्तिपात के अन्दर रह रहा है! चुकिं सव कुछ स्वयं शिव ही हैं अतः पारमार्थिक दृष्टि से स्व और पर ऐसा विभाव उसकी दृष्टि में नहीं है, इस कारण उसके शक्तिपात में वैषम्य नैचृण्य आदि दोष नहीं रहते! शक्तिपात कर्मादि से सर्वथा निरपेक्ष होता है![1]

रागक्षय कर्मसाम्य, पुण्यप्रताप, मलपाक, मित्रयोग, भक्तिभाव, सवाभ्यास, वासनोदय, संस्कारपाक, मिथ्याज्ञानक्षय, कर्मसन्यास, काम्यकर्मपरित्याग, चित्तसाम्य आदि निमित से शक्तिपात को मानने पर इसके भी निमित्त का अन्वेषण करना होगा, इस प्रकार अनावस्था आदि दोष आ पड़ेगें! इसलिए सर्वथा निर -

---

(क) स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिवः शम्तेः पातयिता, इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः (तन्त्रसार पृ० 118)

(ख) इत्यं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी!
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता!! (मालिनीविजयवार्तिक 1.628)

(ग) न च वाच्य कस्मिश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति! स एवं परमेश्वरः तथा भातीति सतत्वे को ऽसौ पुमान नाम् यदुदेद्र्शेन विषयकृता चोदनेयम्!

पेक्ष रहकर शिव अपने स्वातन्त्र्य से अनुग्रह करता है! शक्तिपात से ही सदगुरू की प्राप्ति होती है! पारमेश्वरी शक्ति का तिरो भाव होने पर असदगुरू मिलता है![1]

परमेश्वर की तिरोधाम शक्ति ही पशुप्रमातोओं के संसरण का हेतु है, जिससे ये प्रमाता अपने स्वरूप का भाव न रह जाने के कारण शुभाशुभ कर्मों में निरत होकर सुखदुःख रूप भोग के भागी बनते हैं तथा बारम्बार संसरण किया करते हैं! अस्तु, प्रमाताओं का आत्मा एक होने पर भी प्रकाश तथा अप्रकाश रूपिणी अनुग्रह तथा तिरोधान की शक्तियां ही मोक्ष एवं वधंन का कारण है!

अनन्तशक्ति की एक शक्ति प्रमाता को अप्रतिहत होकर संसार पाश के जाल से वांध देती है तो दूसरी शक्ति सारे गुणों (रस्सियो) को ज्ञान की तलवार से काट कर पुरूष को मोक्ष की ओर अभिमुख कर देती है!

अवस्थाएँ

सभी अवस्थाओं के भेद परमात्मा शिव के ही हैं! अथर्ात् विभिन्न अवस्थाँए शिव के भिन्न भिन्न रूप में स्वीकृत हैं! जिस प्रकार फणित शक्कर, गुड़, आदि ईख के ही रस हैं![1] क्योंकि वस्तुतः माधुर्य सभी में पाया जाता है! उसी प्रकार भेद, परमात्मा स्वस्वभाव-शंभु अथर्ात् चैतन्यमहेश्वर के ही हैं! क्योंकि वही भगवान सभी का आत्मभूत है, और अपने स्वातन्त्र्य से विभिन्न भूमिकाओं को ग्रहण किया करता है तथा ग्राह्य (प्रमेय) तथा ग्राहक (प्रमाता) आदि की विभिन्न अवस्थाओं से भेद ग्रहण करता है जैसे इक्षु रस! पर उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, अतः वह एक ही है क्योंकि सभी अवस्थाओं में उसी संविद् की अनुगति पाई जाती है! इस प्रकार सर्वत्र एकरूपता दिखाई पड़ने के कारण प्रमाता सर्वद्रष्टा होता है!

---

1. शक्तिपातात् सद्गुरूविषया पिपासा भवति! असद्गुरूविषयायां तु तिरोभाव एवं! असद्गुरूतस्तु सद्गुरूगमनं शक्तिपातादेव! (तन्त्रासाार पृ० 122

श्रीशम्भुभट्टारक के कथनुसार - एक भाव सभी भावों का स्वभाव है, सभी भावों का स्वभाव एक भाव है, जिसमें परमार्थतः एक भाव का साक्षात्कार कर लिया है वह सभी भावों का वस्तुतः साक्षात्कार कर लेता है!"

भगवद्गीता में वर्णिति है कि - जिसमें (मनुष्य) पृथक पृथक सब भूतों में एक अविनाशी भाव को विभागरहित रूप में देखता है उस ज्ञान को सात्विक समझो![2]

जगत् की सृष्टि स्थिति, संहार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इस प्रकार की ये सभी अवस्थायें उस तुर्य रूप तीर्थ में शब्दादि विषयों के आपस में भिन्न दिखाई देने के कारण जाग्रत अवस्था ही परब्रह्म की विराट् अवस्था विश्व दशा है केवलमात्र प्रकाश की घनता से परब्रह्म की तेजावस्था ही स्वप्न की दशा है! आनन्द से रहित केवल ज्ञान धन होने के कारण परब्रह्म की प्राज्ञ अवस्था सुषुप्ति की दशा है उससे भी परे अथति् उच्च विमर्श तथा आनन्द पूर्ण ज्ञान धन होने के कारण चौथी तुर्य अवस्था है![3]

(1) जाग्रत अवस्था

जाग्रत आवस्था ही विश्व अर्थात ब्रह्म का विराट् स्वरूप है! क्योकि महेश्वर ने जिन पाँच शब्दादि विषयों की भिन्नतया सृष्टि की है, उसी के सम्बन्ध में चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं! इस प्रकार एक ही ब्रह्म विषय और विषयी रूप में स्थित है! जिससे इन्द्रियज्ञान के नाना वैचित्र्य उत्पन्न होते है!

---

1. रसफणित शर्करिक - गुड़ खण्डाद्या यथेक्षुरस एव!
   तद्वद् अवस्था भेदाः सर्वे परमात्मनः शंभो!! (पार० सा० क० 26)
2.
3. जाग्रद्विश्वं भेदात् स्वप्नस्तेजः प्रकाशमाहात्म्यात्!
   प्राज्ञः सुप्तावस्था ज्ञानधनत्वाचतः परं तूर्यम्!! (पार० सा० का० 35)

शिवसूत्र में भी जाग्रत अवस्था के विषय में कहाँ गया कि इन्द्रिय एव बिषय के संयोग से होने वाले ज्ञान को जागृत कहते हैं![1] जिस अवस्था में अधिष्ठेयरूपता ही विद्यमान रहे और अधिष्ठातृरूपता सब प्रकार से असंविदित रहे अर्थात् जिस समय चैत्र-मैत्र, घट-पट आदि वस्तु वर्ग प्रमाता को वेद्यरूप में ही प्रतीत हो जाय वही अवस्था मुख्य रूप से जाग्रदवस्था कही जाती है!

इसे ब्रह्म की विराट् अवस्था माना जाता है![2] श्रुति में कहा कि जो सब ओर पैरों वाला है सव ओर मुखों वाला, सव ओर भुजाओं वाला है! वह एक देव द्यौ (द्युलोक) और पृथ्वी को उत्पन्न करता हुआ (मनुष्य पक्षी) दो भुजाओं और पतत्रों (पैरों च पंखो) से युक्त करता है!

(2) स्वप्न अवस्था

स्वप्न ब्रह्म की तेजोअवस्था है क्योंकि उसमें प्रकाश की महिमा रहती है स्वप्न में वाह्य इन्द्रियाँ शब्दादि विषयो में प्रवृत्त नहीं होती, और न परमार्थतः उस स्थिति में वाह्य शब्दादि होते हैं! और न वाह्य रूप में अध्यवसाय अर्थात ज्ञान करने के लिये अविद्यादि किसी प्रकार का विषयों से भिन्न अथवा अभिन्न कारण मौजूद रहता है, और न किसी कारण को सोचा जा सकता है! तथापि स्वप्न में सव कुछ प्रतीत होता है अतः यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि वही स्वात्मस्वरूप भगवान विभिन्न प्रमातृ भाव धारण करके स्वप्न वनकर अपने को ही, प्रकाश की स्वतन्त्रता के कारण गृह, नगर,अटारी आदि (विभिन्न अधिकरणों) में अनेक प्रमाताओं के रूप में अपने को विभाजित करके प्रत्येक प्रमाता के स्वप्न में असाधारण सर्वमान्य

1. ज्ञानं जाग्रत!! (शिवसूत्र)
2. जगरितस्थानो वहिः प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूल भुगू वैश्वा नर प्रथम पादः! (1-3 माण्डूक्योपनिषद्)

नहीं अपितु असामान्य विश्व को प्रकाशित करता है! स्वप्नअवस्था के सम्बध में माण्डूक्योपनिषद में भी उल्लेख मिलता है![1]

मन मात्र से उत्पन्न होने वाले आसाधरण विषय विकल्प ही स्वप्न हैं![2] अर्थात अपनी आत्मा में अपने आप से उत्पन्न विकल्प स्वप्न कहलाता है! स्वप्नावस्था का मुख्य स्थान विकल्प मार्ग है, और इस का मुख्य लक्षण अवाहयता है! विकल्प मार्ग तथा स्वप्न मार्ग दोनो वास्तव में एक ही हैं क्योकि इन दोनों में अवाहयता समान रूप से पाई जाती है![3]

इस अवस्था में मन की प्रधाननता रहती है तथा मानसिक क्रियाये होती रहती है इसमें चिताकाश की भी प्रधानता होती है! प्राणमय अन्नमय तथा बिज्ञानमयकोश की प्रधानता होती है! सूक्ष्म शरीर की अवस्था स्वप्नावस्था है!

(3) सुषुप्ति

प्रकाश की महिमा ही इस स्वप्न सृष्टि का हेतु है, अतः स्वप्न ब्रह्म की तेजोअस्था है तथा "प्राज्ञ सुप्तावस्था है" संभी प्रमातायों की जो सुप्तावस्था है वही प्राज्ञ अर्थात् ब्रह्म की प्राज्ञावस्था है, क्योंकि ग्राह्य प्राज्ञावस्था (प्रमेय) एवं ग्राहक (प्रमाता) के प्रपंच के विलीन हो जाने से सभी प्रमाताओं के लिये सुषुप्त महाशून्यस्व रूप होता है जिसमें ग्राह्यादि के विलय होने पर उनका संस्कार ही शेष रहता है! सुषुप्त में विश्व के वीजभीत ब्रह्म की ही प्रज्ञा रहती है अर्थात् ब्रह्म ही प्रज्ञाता के रूप में अन्यतम शेष रहता है!

---

1. स्वप्नस्यानोन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंश तिमुखः प्रविविक्त भुक् तैजसो द्वितीयः पादः! (भाडूक्योपनिषद)
2. स्वप्नो विकल्पः - (शिवसूत्र)
3. वैकल्पिकयथारूढ़वेद्यसाम्याvभासनात्! लोकरूढ़ोऽप्यसौ स्वप्नः साम्यं चावाह्यरूपता!!

सुषुप्त में विश्व के वीजभूत ब्रह्म की ही प्रज्ञा रहती है अर्थात् ब्रह्म ही प्रमाता के रूप में अन्यतम शेष रहता है! यह (सुषुति) सभी प्रमाता के लियं नीलसुखदि के रूप में विश्व वैचित्र्य-प्रकाश की संस्कार भूमि है क्योकि उससे उठकर प्रमाता का व्यवहार, पहिले अनुभूत की तरह देखा जाता है! अन्यथ यदि इस भूमि में स्थित प्रज्ञाता के स्वभाव वाला ब्रह्म सभी को अन्तः स्थित करके प्रकाशित न होता तो उस (सुषुप्त अवस्था) से उठने वाले प्रमाता को पहले अनुभूत वस्तु के सम्बन्ध में "यह वैसी ही है" यह अनुभूत पूर्व की स्मृति कैसे पैदा होती - और न यह अनुभव भी पैदा होता कि मैं सुख से सोया था या दुःख से सोया था या मैं गहरे मोह में डूब गया था! सुषुप्त चिन्मय रहकर ही ब्रह्म की प्राज्ञावस्था माना जाता है[1] क्योकि यह अवस्था ज्ञान से घन होती है! सुषुप्त और तुरीय दोनों अवस्थाओं का यह ज्ञानधनत्व साथारण हेतु है अतः सुप्तदशा ज्ञानधना अथति् प्रकाशमूर्ति है वह विश्वप्रलय के सस्कार से मलिन होती है अतः शुद्ध चिन्मय नहीं हो पाती!

सुषुप्तिावस्था के विषय में माण्डूक्योनिषद में भी स्वरूप विरूपण![1] जिसमें अपना ही बोध न हो ऐसा मायात्मक अविवेक अथति् मोह ही सुषुप्ति है![3] विवेचना का अभाव ही अविवेक है! यह तमोगुण अवस्था है इस सुषुप्ति अवस्था को सौषुप्त भी कहते हैं! योगियों की दृष्टि से इस अवस्था को रूपस्थ कहते हैं क्योंकि उनको इस दशा में समस्त वस्त वर्ग अपने ही समदावस्था में ठहरा हुआ प्रतीत होता है! ज्ञानियों की दृष्टि से इस अवस्था का नाम

---

1. यत्र सुप्तो न कंचन कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्!

   सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो हयनन्द भुक् चेतो मुखः प्राज्ञस्तृतीय पादः (माण्डूक्यो पनिषद)

2. स्प० 1-18

3. अविवेको माया सौष्प्तम्! - शिवसूत्र

महाव्याप्ति है क्योंकि उन्हे इस अवस्था में भेद प्रथा का तनीक भी भान नहीं रहता है! श्री पूर्व शास्त्र में कहा गया है![1]

(4) तुर्यावस्था

इस सुषुप्त से परे तुरीय! सारे पाशव सस्कारों के क्षीण हो जाने से शुद्ध तथा पूर्ण आनन्दमय ब्रह्म का चतुर्थ रूप है जिन जिन अवस्थायों का वर्णन किया है उनकी विश्रान्ति इसी में होती है, तीनों अवस्थाओं में व्याप्त होने पर भी यह उनसे परे कैसे है? इसका उत्तर ज्ञानघन होने से! जाग्रत आदि सभी अवस्थाएं भेद प्रधान होने के कारण प्रमाताओं के लिये अज्ञानमयी हैं पर तुरीय, ग्रह्य ग्राहक के वैषम्य तथा प्रलय के संस्कार विनप्ट हो जाने से, ज्ञानघन, प्रकाश तथा आनन्द की मूर्ति है, अतः उन तीन अवस्थाओं में रहने पर भी उनसें चिन्मयता के कारण परे होने से पर अर्थात् भिन्न है! अस्तु विभिन्न अवस्थाओं वाला, परम अद्वय स्वभाव का स्वतन्त्र ब्रह्म ही पूर्ण रहकर प्रकट रहता है! जिस अवस्था में समस्त वस्तु वर्ग अपने संस्कारो को उसी प्रभिति अवस्था में लीन करता है, उस दशा को तुर्यावस्था कहते हैं! इस अवस्था को शक्ति समावेश भी कहते हैं! योगियों ने इस अवस्था को "रूपातीत" तथा ज्ञानियों ने "प्रचय" नामों से विभूषित किया है![2]

ये अवस्थाये एक ही प्रमाता के साथ सम्बन्ध रखती है! एक ही प्रमाता कभी जाग्रत अवस्था में, कभी स्वप्नावस्था में कभी सुषुप्ति अवस्था में होता है और कभी योगाभ्याास का आश्रय लेकर तुर्य अवस्था का अनुभव करता है!

---

1. रूपस्थ च महाव्याप्तिः सुषुप्तस्यणि तद्द्वयम्"!
2. प्रचयो रूपातीत च सम्यक्तुर्यमुदाहृतम्!

सुषुप्ति और तुर्य इन दोनों अवस्थाओं में यद्यपि ज्ञान का आधिक्य एक जैसा ही रहता है, तथापि सुषुप्ति दशा में संस्कारो का समूल नाश न होकर, सस्कार वने रहते है! अतः इस मे शुद्धचिन्मय रूपता का अनुभव नही होता! इधर तुर्य अवस्था में ग्राह्य-ग्रहक रूप संस्कार पूर्णतय नष्ट होता हैं! अतः वह शुद्ध चिन्मय दशा मानी गई है!

जगत् सृष्टि, स्थिति सहांर जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इस प्रकार ये सभी अवस्थायें उस तुर्य रूप तीर्थ में विकसित होती है फिर भी वह (तुर्यावस्था) उन तीनों अवस्थाओं से ढकी हुई नहीं है![1]

विश्व की दृष्टि से जो सृष्टि आदि हैं तथा मायाप्रमाता (जीव) की दृष्टि से जो जाग्रत आदि की अवस्थाएं हैं, वे दोनो ही आनन्दघन इस ईश्वर में अर्थात् तुरीय धाम या चतुर्थ पद जो पूर्ण अहन्ता रूप है, में प्रकाशित होती है - उसी (तुरीय) में विश्रान्त होकर कल्यित प्रमात की दृष्टि से बाह्य रूप में स्वरूपलाभ करती है! जो परमेश्वर की मिति (धाम, पद, आधार) में प्रकाशित नहीं है वह ब्राह्मरूप में भी प्रकाशित नहीं हो सकता! अतः तुरीय धाम तेल की तरह व्याप्त है! सभी अवस्थाओं में तुरीय रूप अनुस्यूत है! शिव यही परमार्थ है! पर क्या इन अवस्थाओं से उस (तुरीय धाम) का स्वरूप आच्छादित हो जाता है! इसी के उत्तर में कहा कि वह तुरीय उनसे आवृत्त नहीं होता! इन तीनों से परे होने के कारण सभी का अनुभविता होने के कारण (तुरीय धाम) सवर्त्र प्रकाशित अवश्य होता है और उन (तीनों अवस्थाओं) को व्याप्त

1. सृष्टि स्थिति संहारा जाग्रतस्वप्नौ सुषुप्तमिति तस्मिन्!

भान्ति तुरीयं धामनि तथापि तैर्नावृतं भाति!! (पार० सा० का० 34)

भी किये रहता है (अथवा तीनों से आवृत रहता है) तथापि उनके आवरण से उसके पूर्णस्वरूप का तिरोधान नहीं होता! अस्तु शिवधाम सभी अवस्थाओं में सदा परिपूर्ण रहता है! माडूक्योपनिषद में तुरीय पद का उल्लेख मिलता है![1]

(5) तुर्यातीतावस्था

जो अवस्था पूर्ण तथा अनवच्छिन्न आनन्द से भरी रहती है जहाँ योग अभ्याास करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता वह तुर्यातीत अवस्था कहलाती है उसको परम धाम भी कहते हैं! यह अवस्था तुर्यावस्था के दृढ़ अभ्यास से उत्पन्न होती है! तुर्यावस्था का अभ्यास दृढ़ होने पर तुर्यातीत अवस्था को प्राप्त साधक चिन्मात्र अन्नद स्वरूप भगवान शिव के समान हो जाता है! इस अवस्था में सव ओर से केवल ज्ञान ही अनुभव में आता है, अतः इस अवस्था का नाम केवल ज्ञानियों की दृष्टि से ही रखा गया है! ज्ञानियों ने इस अवस्था का नाम "महाप्रचय" रखा है क्योकि इस अवस्था में विश्वोतीर्णता में विश्वमयता और विश्वमयता में विश्ववोत्तीर्णता का अनुभव होता है मलिनिविजयतन्त्र में कहा है![2]

इस अवस्था में एक वार प्रवेश करके ज्ञानी को फिर से किसी उपासना का आश्रय नही लेना पड़ता क्योंकि यह अवस्था फिर सदा के लिए वनी ही रहती है! इसलिए ज्ञानी इस अवस्था को "सततोघत" भी कहते हैं! इन्ही मौलिक अवस्थाओं के पारस्परिक संयोजन और

1. नान्तःप्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोमयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं च प्रज्ञं नाप्रज्ञम! अद्वयमव्यवहार्यमग्राह्ममलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैत चतुर्थ मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः! - (माण्डूक्योपनिषत् 1-7)
2. महाप्रचयामिच्छन्ति तुर्यातीत विचक्षणा! - मालिनिवजयतन्त्र

नियोजन की विचित्रता से अनन्त प्रकार की मानसिक अवस्थाऐं जन्म लेती है जैसे -

1. जाग्रत,	जाग्रत-जाग्रत	जाग्रत-स्वप्न	जाग्रत-सुषप्ति	जाग्रत-तुर्या
2. स्वप्न, स्वप्न-जाग्रत	स्वप्न-स्वप्न	स्वप्न-सुषुप्ति	स्वप्न-तुर्या	
3. सुषुप्ति,	सुषप्ति-जाग्रत	सुषुप्ति-स्वप्न	सुषुप्ति-सुषुप्ति	सुषुप्ति-तुर्या
4. तुर्या	तुर्या-जग्रत	तुर्या-स्वप्न	तुर्या-सुषप्ति	
5. तुर्यातीत				

ये पांचो अवस्थायें एक ही प्रमाता के साथ सम्बधं रखती है! एक ही प्रमाता कभी जाग्रत अवस्था में, कभी स्वप्नावस्था में कभी सुषुप्ति अवस्था में होता है और कभी योगभ्यास का आश्रय लेकर तुर्य तथा तुर्यातीत अवस्थाओं का अनुभव करता है!

योग

योग शब्द समाध्यर्थक "युज्" धातु (युज् समाधौ) से निष्पन्न होता है! अतः योग का व्युत्पत्तिलम्य अर्थ- समाधि है! पातञ्जलिकृत योग का लक्षण है चिन्त की वृतियों को रोकना![1]

पातञ्जल योगसूत्र के व्यास भाष्य में योग को ही समाधि सञ्ज्ञित किया है![2] योगः समाधिः। याक्वल्क्यस्मृति में जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को ही योग अथवा समाधि

---

1. योगाश्चित वृतिनिरोधः - (पा० यो० सू०)

2. योगः समाधिः (प० यो० सू०)

वतलाया है![1] इसी प्रकार सर्वोपनिषदसार गीता में भगवनश्री कृष्ण ने समत्व को योग कहा है![2]

श्री मन्मृत्युद्धिट्टारक (नेत्रतन्त्र) में "स्व" और पर (अन्य) सभी प्राणियों एवं जगत् मे समत्व बुद्धि को समाधि कहा गया है जिसमें शिवोऽहं द्वितियोऽहम् अनुभव होता है! क्षेमराज के अनुसार यह कोई मित सिद्धि नहीं होती प्रत्युत परमतत्व में समावेश होता है![3]

ईश्वर प्रतिभिज्ञाकार उत्पलदेव ने पशुत्व अनुभूति की अपेक्षा से शिवत्व अनुभूति को ही समावेश समाधि अथवा योग वतलाया है![4]

इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने शिवमय भाव हो ही समावेश अथवा योग माना है हृदय (रूपी अति गूढ़ कोष में उत्पन्न परमार्थ रूप रत्न का सचंय से मैं शिव ही हूँ ऐसा भाव ही योगी का योग है![5]

1. (क) संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः!

   (ख) समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः!

   ब्रह्मण्येव स्यितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः!!

2. मण्डूक्य निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति - मु० उप०, 3/1/3

3. परतत्व समावेश एव भवति न तु मितसिद्धिः - शि० सू० वि, 3/6

4. (क) मुख्यतत्वं कर्तुतायास्तु वोधस्य च चिदात्मनः

   शन्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षण - ई० प्र० वि०, 23

   (ख) सोऽहं ममायं विभव इत्येव परिजानतः!

   विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता!! -तदेव 4/12

5. अतिगूढहृदयगञ्च प्रस्ढपरमार्थरत्नसंचयतः!

   अहमेरति महेश्वर भावे का दुर्गतः कस्य!! - पार० सा० का०, 59

वास्तव में त्रिक आचार की आणव उपाय से लेकर अनुपाय तक ही समस्त साधना को काश्मीर शैव दर्शन में योग कहा गया है परन्तु पातञ्जल योग दर्शन में चित्त की सभी तृत्तियों अर्थात व्यवहारो को वन्द करना होता है! वेदान्त की निरोध समाधि में भी ऐसा ही करना होता है! किन्तु शैवी साधना में चित्तवृतियों का बलात्कार से निरोध करना साधक के लिए उपयुक्त नहीं माना गया है! इस शास्त्र की दृष्टि में ऐसा करने से चित्त से अधिक विभ्रान्त और चञ्चल हो जाने का वहुधा भय रहता है![1] अतः शैवी साधना अथर्ति शैव दर्शन मतानुसार योग में आरम्भतः चित्त की वृत्ति को शिवभाव की भावना के प्रति लगाया जाता है! जब उस भावना का अभ्यास परिपक्व हो जाता है, तो भावना की सहायता के विना ही परिपूर्ण शिवभाव का समावेश स्वयंमेव ऐसे ही हो जाता है उस अवस्था में भावना का अभ्यास भी छूट जाता है और चित्त अपनी समस्त वृत्तियों के समेत उस निर्विकल्प शाम्भव समावेश में विलीन सा हो जाता है! वृत्तियों के निरोध की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती! पातञ्जल शास्त्र में चित्तवृत्ति निरोध को ही योग कहते हैं! परन्तु शैव दर्शन में जीव का शिव के साथ एकत्व हो जाना ही योग कहलाता है![2] इस एकत्व को प्राप्त करने के जो उपाय होते हैं, उनको भी इस दर्शन में योग कहते है इसी कारण त्रिक आचार के तीनों उपाय योग कहलाते हैं यदि और भी किसी उपाय से जीव और शिव में एकत्व हो जाए, तो उस उपाय को भी "योग" कहा जा सकता है!

---

1. स्वं पन्थानं ध्यस्येव मनसो ये निरून्धते!

   तेषां तत् खण्डना योगाद् धावत्थुत्पथकोटिभिः!! - मा० वि० वा०, 2-109

2. योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना! मा० वि० तं०, 4-4

योगी

जीव और शिव में एकत्व भाव स्थापित होना योग माना गया है इस "भाव" का विदेह मुक्ति पर्यन्त अभ्यास करने वाले को योगी कहते है! इस प्रकार के अभ्यास में रत योगी सांसारिक बिषयों के प्रति विरक्त होने से जीवन से मुक्त होता है, जिससे उसकी अनात्मा अर्थात् शरीर को आत्मा समझना और आत्म रूप विश्व को आत्मा न मानना-ऐसी विभ्रान्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तो उस योगी को किसी दूसरे कर्तव्य का विचार नहीं करना पड़ता![1]

पृथिवी, प्रकृति तथा माया अडं ये तीनों निश्चय से ज्ञेय अर्थात पदार्थ रूप होने पर भी अभेद भावना के कारण उसे (योगी) सद् रूप ब्रह्म को ही प्राप्त होते दिखाई देते है अर्थात इन तीनों अण्ड़ो में स्थित इक्तीस तत्व सद्रूप ब्रह्म ही दीखने में आते हैं! क्योंकि जिस प्रकार सोने की तागडी कानो का आभरण और कटक आकार का भेद मिटने पर सोना ही दिखाई देता है वैसे ही भेद की भावना समाप्त होने पर सभी इक्तीस तत्व सद्रूप ब्रह्मा ही दिखाई देते हैं![2]

इस प्रकार द्वैत् की भावना के मिटने पर छलने वाली माया को पार करके पानी में पानी की भांति तथा दूध में दूध की भान्ति योगी परब्रह्म में लीन हो जाता है![3] सम्पूर्ण जगत शिवमय आभासित होने से उसे कोई शोक या मोह नहीं रहता आत्मा ज्ञानी किसी सें नहीं डरता क्योंकि उसे समस्त विश्व स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है इसलिए उसे कभी भी शोक नहीं होता तथा वह किसी भी दशा में नष्ट नहीं होता![4]

---

1. इत्थं विभ्रयुगलक समूलविच्छेदने कृतार्थस्य!
   कर्तव्यान्तरकलना न जातु परयोगिनी भतति!! - पार० सा०, का० 40
2. रशना कुंडलकटकं भेदत्यागेन दृश्यते यथा हेम!
   तद्वद्भेदत्यगे सन्मात्रं सर्वमाभाति!! - तदेव, का० 42
3. इत्थं द्वैतविकल्पे गलिते प्रविलङ्घय मोहनीं मायाम्!
   सलिले सलिलं क्षीरे क्षीरमिव ब्रह्मणि लयी स्यात्!!- तदेव, का० 51
4. आत्मज्ञो न कुतश्चन बिभेति सर्व हि तस्य निजरूपम्!
   नैव च शोचति यस्मात् परमार्थे नाशिता नास्ति!! - तदेव, का० 58

आणवादि मलो से रहित, ज्ञान स्वरूप, सभी तत्वों से परे ज्ञातृ रूप और कर्तृरूप, व्यापक, कभी न अन्त होने वाले उज्जवल प्रकाश स्वरूप, शुद्ध संकल्पों से युक्त, देश और काल के लगाव से रहित, अटल, अविकारी, सभी ऐश्वर्य से युक्त, पूर्णरूप से आकांक्ष रहित, अनेक चितादि शक्ति समूह से जगत का प्रलय तथा सृष्टि करने में अद्वितीय कर्ता, सृष्टि, सहांरं इत्यादि रीति बनाने में अत्यन्त कुशल कलाकार स्वरूप स्वात्मा को शिवमय जानेन से योगी संसारी नहीं रहता ओर न ही उसे मुत्यु जीवन के चक्र में घूमता पड़ता है![1]

इस तरह युक्तियों द्वारा सिद्ध हो जाता है कि जो ज्ञानी का कर्म है वह फलवान नहीं होता "यह मेरा नहीं है अपितु उसका है" इस भावना को स्थिर करने से ससांर में फल नहीं होता! जैसे ब्राह्मण जन, यजमान का हवन स्वय करने पर भी उस के फल को नहीं प्राप्त कर पाते हैं क्योंकि उन को पूर्ण रूप में विश्वास होता है कि यह यज्ञादि कर्म हमारा नहीं अपितु इस यजमान का ही है; इसी प्रकार ज्ञानी भी निष्काम रूप से कर्म करने पर उसके फल को प्राप्त नहीं करते हैं![2]

अतः इस योग अभ्यास में लगा हुआ योगी शेष व्यवहार से निष्काम भाव से जीवन यापन करता है वह सजग ज्ञानी स्वात्म परामार्श रूपी वायु से प्रज्वलित आत्मा रूपी ज्योति में समस्त विकल्पों की आहुति देता हुआ तजोमय वनता है![3] विमर्श परायण ज्ञानी सभी कर्मो को आत्मा अनुसन्धान पूर्वक करता हुआ, आत्माग्नि में आहुति देता हुआ, ठहरता है इस प्रकार वह सदा ज्ञान रूपी प्रकाश से कांतिमान रहता है!

---

1. (क) यदि पुनरमंल वोध सर्वसमुत्तीर्णबोद्धकर्तृमयम्! विततमनस्तमितोदित भारूपं सत्यंकल्पम्! पार० सा०, का० 64
   (ख) दिक्कालकलनविकलं ध्रवमव्ययमीश्वरं सुपरिपूर्णम्
   वहुतरशक्तिब्रातप्रलयोदयविरचौककर्तारम!! - तदेव, का० 65
   (ग) सृष्टियादिविधि सुवेधसमात्मानं शिवमयं विनुद्ध्येत!
   कथमिव संसारी स्याद् विततस्य कुतः क्व वा सरणम्!!- तदेव, का० 66
2. इति युक्तिभिरपि सिद्धं यत्कर्म ज्ञानिनो न सफंल तत्
   न ममेदमपितु तस्ये ति दार्ढ़यतो न हि फलं लोके!! - तदेव, का० 67
3. इत्थं सकलविकल्पान् प्रतिवुद्धो भावनासमीरणतः!
   आत्मज्योतिषि दीप्ते जुहृज्ज्योतिर्मयो भवति!! - तदेव, का० 68

वह यथाउपलब्ध भोजन को ग्रहण करता है तथा जिस प्रकार के वस्त्र मिल जाए उनसे अपने देह को ढ़क लेता है जैसा स्थान मिल जाए वह रह लेता है उसे केवल सहारा भर चाहिए उसके लिए आश्रम, तीर्थ आदि पवित्र होने से स्वीकार्य नहीं होते और श्मशान, श्वपच गृह आदि अपवित्र होने से त्याज्य नहीं! विना किसी यत्न के जो स्थान आ जाये वही ठहर जाता है क्योंकि उसे पवित्र और अपवित्र का कलंक स्पर्श नहीं कर पाता इसी लिए वह शान्त वना हुआ सर्वभूतात्मा (और जीवों की आत्मा है और सारे जीव असकी आत्मा) की भावना से युक्त जीवन मुक्त हो जाता है![1]

मैं ये मेरा है उस अभिमान से रहित परमार्थ को तात्विक रूप से जानने वाला ज्ञानी हजारो अश्वमेघ यज्ञ लाखों ब्रह्महत्यायें भी करे तथापि वह निर्लिप्त साधक अश्वमेघ सम्बन्धी पुण्यों और ब्रह्मघात संबन्धी पापों से अछूता रह जाता है! ऐसे उत्तम साधक को पुण्य और पापों का वधंन वाधित नहीं करता![2]

जीवनमुक्त साधक अहंकार, प्रसन्नता, क्रोध काम, शोक, भय, लालच, अज्ञान आदि से दूर रहता है तर्क संशय से ऊपर उठी हुई बुद्धि वाला होने से स्तोत्र पाठ या वषटकार से रहित उदासीन विचरण करता है! प्रसन्नता अभिमान तो भेदभाव के कारण होने वाले अज्ञान से उत्पन्न होता है अभेद रूप वना हुआ आत्म ज्ञानी उस मद आदि विकारों की लपट से अछूता रहता है! जब तक द्वैत रूपी भ्रांति होती है तभी तक अहंकार, मोह हर्ष आदि की कल्पना रहती है! जब वाहर भीतर सभी शिवमय ही भासित होता है तो मद, मोह आदि का झंझावात इस जीवन्मुक्त का कुछ भी नहीं विगाड सकता है![3]

---

1. अश्नन यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः!
   यत्र क्वचन निवासी विमुच्यते सर्वभूतात्मा!! - पार० सा०, का० 69
2. हयमेघ शतसहस्रण्यपि कुरूते ब्रह्मघातलक्षाणि!
   परमार्थविन्न प्रण्यैर्न च पापै सपृश्यते विमलः!! - तदेव का० 70
3. (क) मदहर्षप्रभृतिरयं वर्गः प्रभवति विभेदसंमोहात्!
   अद्वैतात्माविबोधस्तेन कथं स्पृश्यतां नाम!! - तदेव, का० 72
   (ख) एतावदेव खलु लिंगमलिंगमूर्त्तेः सशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्तृतस्य!
   तज्ज्ञस्य पद् मदनकोपविषाद मोह लोभापदामनुदिनं निपुणतनुत्वम्!! - वासिष्ठ शास्त्र

जन्म और मृत्यु से रहितपर-रूप महेश्वर भाव को प्राप्त कर अर्थात अपने में दृढ़ ज्ञान के द्वारा उसे अनुभव कर ज्ञाता के रूप में प्रकट होने से सफल मनोरथवन कर मनमाने रूप से अर्थात (स्वतन्त्रता से चक्के के धूमने की तरह) शरीर को धारण किये हुएं भी अवस्थित रहता है अर्थात समय का यापन करता है! इस प्रकार शरीर के रहने पर भी पूर्ण स्वतन्त्र और अनन्दं से रहता है![1] क्योंकि जो कोई आत्म वोध रूपी परम-आन्नद को जानता है वह स्वयं भी आनन्दमान ही हो जाता है![2]

तीर्थो पर जाना पुण्य का कारण माना जाता है और चमार के धर में मरना नरक में जाने का हेतु समझा जाता है किन्तु पुण्य तथा पाप के दोष से अछूता रहने पर इस योगी को लोक से चले आते हुए अधं विश्वास से कुछ नहीं प्रयोजन होता क्योंकि वह ससांरिक सन्तापों से मुक्त हुआ होता है इसलिए स्मरणशक्ति के समाप्त होने पर भी पुण्य स्थान में या चमार के घर में शरीर को छोड़ता हुआ ज्ञान प्राप्ति के समय ही बन्धन रहित बना हुआ शिव भाव को प्राप्त करता है! अर्थात अपने स्वरूप का परिशीलन (अर्थात यह सव आत्मप्रकाश का स्वातंन्त्रय है) करने वाले योगी को तीर्थ में प्रयाग, पुष्कर, कुरूक्षेत्र आदि महापुण्यशाली स्थान में अथवा चडांल के धर में यानी शूद्रजनों के घर से ध्वनित अत्यन्त पापी स्थान में शरीर को छोड़ता है! दानों (स्थान विशेष के) स्वीकार या परित्याग की विड़म्बना से रहित हो कर आत्मज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त करता है![3] अर्थात शरीर का विनाश होने से प्रधानादि का जो कार्य और कारण समूह है! उससे भिन्न चिदानन्दस्वरूपपिणी तुर्यातीतरूप केवलता को प्राप्त करता है!

---

1. (क) इति जन्मनाशहीनं परमार्थमहेश्वराख्यमुपलभ्य!
   उपलब्धृताप्रकाशात् कृतकृत्यास्तिष्ठति यथेष्टम!! - पार० सा०, का० 81
   (ख) सम्यग् ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनीमकारणप्राप्तो!
   तिष्ठिति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् घृत शरीरः!! सांख्यकाशिका - 67
2. परमानन्दं यो वेति स तन्मयो भवति - पार० सा०, का० 82
3. तीर्थ श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परिव्यजन्देहम्
   ज्ञातसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः!! - पार० सा०, का० 83

भूसी और कंबुक के दष्टांत द्वारा साधक के कैवल्य अवस्था के विषय में उल्लेख किया है कि मूसी और कबुकं अलग किये गए चावल के दाने को मूसी रूप अपद्रव्य में डालने से उस चावल के दाने को पुनः वही शाली का रूप नहीं दे सकता उसी प्रकार षटकंचुको के आवरण से अलग करने पर चेतना इस शरीर में पूर्व संस्कार के कारण ठहरी हुई भी उस षटकचुंक के स्पर्श से छूटी हुई मुक्त वनती है![1]

संसार का कारण अज्ञान है स्वात्मज्ञान के उदय होने पर साधक के कंचुक नष्ट हो जाते हैं उसकी संवित संसार का हेतु नहीं वनती क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न समाग्री पंगु हो जाती है और शेष जीवन के लिये संस्कार के कारण रहने वाला देह जो कंचुक के आवरण के क़ारण था ऐसा कचुंक शरीर में स्थित चिति का स्पर्श नहीं कर सकता क्योंकि यह मल रूप ज्ञान अग्नि से जला दिया जाता है अतः संसार के अकुरित करने में समर्थ नहीं होता! अतः ज्ञानी जीता हुआ ही तुरीयरूप है ओर देह न रहने पर भी तुर्यातीतरूप हो जाता है परन्तु दोनों रूपों में संसार की किसी प्रकार आशंका नहीं हो सकती!

अति चतुर करीगर मुनारे कें द्वारा साफ किया हुआँ रत्न डिविया की उपाधि से मलिन अर्थात आच्छादित होने पर मैला और उपाधि अर्थात डिबिया के हटाने पर तात्विक रूप से चमकीला ही होता है इसी प्रकार शिष्य सम्बधी ज्ञान सदगुरू के उपदेश से निर्मलता को प्राप्त हुआ भी शरीर रूपी वाधा से छूट कर दूसरे शरीर रूपी वाधा से रहित होकर शिव ही वनता है![2] स्वरूपसाक्षात्कार कर लेने से साधक यदि इसी शरीर में ही मुक्त बना हुआ है तथापि शरीर सम्बघ होने तक साक्षातू शिवरूपता उसे प्राप्त नहीं होती देह कलना छूटने पर वह परमशिव ही बन जाता है! ऐसा शिवसूत्र में भी कहा है![3]

1. तुषकम्बुकसुपृथक्कृत न पुनस्तद्रूपतादात्म्यम्
   तद्वत् कंचुकपटली तत्स्पर्शविवर्जिता भवति - पार० सा०, का० 85-86
2. कुशलतमशिल्पिकल्पित विमलीभावः समुद्गकोपाधेः!
   मलिनोऽपि मीटारूपाधेर्विच्छेदे स्वच्छपरमार्थः!!! - पार० सा०, का० 87
   (ख) एवं सद्गुरूशासन विमलस्थिति वेदनं तनूपाधेः
   मुक्तमप्युपाध्यन्तर शून्यमिवाभाति शिवरूपम्!! - तदेव का०, 88
3. शिवतुल्यो जायते - शि०, सू०

अन्तिम क्षण में यदि बुरी गति प्राप्त होगी तो वह पाप की पुष्टि करता है और इसके स्थान पर यदि अच्छी गति प्राप्त हो तो वह पुण्य की पुष्टि करता है किन्तु उस मृत्युक्षण में पुण्य अथवा पाप का भागी बनेगा यह केवल अज्ञानियों को ही तदानुकूल गति प्रदान करने में सहायक बनता है! लेकिन ज्ञानी के लिए वह मृत्यु-क्षण उर्ध्वगति अथवा अधोगति प्रदान करने में कारण नहीं बनता है![1] अर्थात ज्ञानी का मुक्त होना स्वात्म साक्षात्कार करने पर ही आधारित है वह तो तात्विक ज्ञान प्राप्ति के समय ही सभीबन्धनों से मुक्त हो जाता है! उसे मृत्यु-क्षण में भगवत स्मृति का छूटना, हिचकियां आदि देह सम्बंधी विकार अधोगति का कारण नहीं बनते हैं और नही अन्त समय में अन्नदान, नाम स्मरण, गङ्गाजल का पीना अथवातीर्थ स्थान में शरीर का त्यागना ऊर्ध्व-गति का कारण बनता है! यह सभी वाह्य व्यवहार तो अज्ञानियों को ही स्वर्गादि प्राप्ति में सहायक बनते हैं!

जो पशु पक्षी सांप आदि जीव जन्तु भी ईश्वररूप होने के कारण अपने अवलम्ब को जानते हैं वे भी पिछले जन्मो में प्राप्त ज्ञान के संस्कार से युक्त होने के कारण उस मोक्ष रूप अवस्था को प्राप्त करते हैं! पशु रूप में गजेन्द्र अथवा जड़भरत थे ये दोनों पशु शरीर को धारण करते हुए भी पूर्वजन्म के सस्कार की स्मृति के द्वारा अन्तिमक्षण पर नामस्मरण के कारण मुक्त हो गए थे!

पक्षि रूप में काकभुशण्डी थे अनको कौवे के शरीर में पूर्वस्मृति के द्वारा मुक्ति मिली थी! नहुष को ऋषि श्राप द्वारा राजा नहुष को सर्प शरीर और नृग को गिरगिट का शरीर प्राप्त हुआ था! दोनों को ऐसे शरीर धारण करते हुए भी नामस्मरण के प्राचुर्य से पूर्व संस्कार के कारण मुक्ति प्राप्त हुई थी! गीता में भी कहा है कि अन्तकाल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है उस-उसको ही प्राप्त होता है![3]

1. अन्त्यः क्षणस्तु तस्मिन् पुण्या पापां च वा स्थितिं पुष्यन्
   मूढानां सहकारी भावं गच्छनि गतो तु न स हेतुः!!- पार० सा०, का० 90
2. (क) येऽपि तदात्मत्वेन विदूः पशुपक्षिखारीसृपादयः स्वगतिम्!
   तेऽपि प्रशतनसंबोध संस्कृतास्तां गतिं यान्ति!!-तदेव का० 9
3. (ख) भागवतगीता 8/6

इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के क्षण में उत्तम योगी को अपना चित्त स्वरूप जैसा अनुभव में आया हो उसी अनुभव से संमन्न बना हुआ वह योगी सदा ही रहता है शरीर त्यागने पर चित् रूप से भिन्न नहीं रहता अर्थात मुक्त बनता है![1]

इन्द्रियों का अपनी सुध में न रहना स्मरण शक्ति खो वैठना सांस ठीक-ठीक न चलना जोड़ों में विशेष रोगों का होना शरीर संस्कार से उत्पन्न हुआ मरने के समय होने वाला मृत्युयोग शरीर के धारण करने पर ज्ञानी को नहीं होता परंतु मृत्यु के समय मोह योग अर्थात कष्टपूर्ण दशाओं के होने पर वह ज्ञानी अपने वास्तविक स्वरूप से कभी भी नहीं डिगता![2] अथति उसे अपना निजी स्वरूप कभी नहीं भूलता वह ज्ञानी देहादि में अभिमान को सदा दवा कर स्वात्मामहेश्वर के स्वरूप में समाविष्ट हो, जाता है मरण के क्षण में उत्पन्न नाना उत्पीड्न उसे पीड़ित नहीं कर सकते![2]

तभी वह योगी तीव्र तम ईश्वर अनुग्रह से तथा प्रवीण सद्गुरू के उपदेश से आंख की पलक में मोक्ष रूपी मार्ग को प्राप्त करता है उसी क्षण विना रोक-टोक के शिव भाव को प्राप्त करता है! शिव भाव की प्रप्ति सोपान क्रम से होती है!

किन्तु पारमार्थिक स्वरूप लाभ की तीव्र उत्कण्ठा से युक्त हृदय वाला होने पर भी किसी नियमित विज्ञान काल आदि अवस्था में ही ठहरने के कारण पारमार्थिक स्वरूप प्रधानमय पराकाष्ठा पर न पहुंचे हुए उस साधक को किसी समय मुत्यु आ जाये तो ऐसे साधक को योग भ्रष्ट कहा गया है वह मृत्यु के पश्चात् स्वर्गादि में जाकर ऐश्वर्य भोगों से परिपूर्ण भुवनों का स्वामी बन कर स्वर्ग से लौटने के पश्चात् दूसरे जन्म में पूर्वजन्म में अधूरे छोड़ेहुए अभ्याास के धागे को फिर से पकड़ कर शिव ही बनता है!

---

1. एवं ज्ञानवासरे स्वात्मा सकृदस्य यादृगवभातः!
   तादृश एव सदासौ न देहापातेऽन्यथा भवति!! - पार० सा० का० 93
2. करणगणसंप्रमोक्षःस्मृतिनाशःश्वासकल्लिताच्छेदः!
   न च्यवते स्वात्मपरमार्थात् - तदेव, 94-95
3. परमार्थमार्गमिनं झटिति यदा गुरूमुखात्समभ्येति!
   अतितीव्रशक्ति पातात् तदैव निर्विध्नमेव शिवः!! त्देव 96
4. तस्य तु परमार्थमयीं धारामगतस्य मध्यविश्वान्तेः! विश्रान्तिस्थानवशाद् भूत्वा जन्मान्तरे शिवी भवति!! -तदेव, का० 99

इस तरह से साधक मोक्ष को देने वाले मार्ग का अभ्यास करके अर्थात आणव, शाक्त आदि क्रम का अनुपालन करके स्वरूप स्थिति को न पाकर भी तो स्वर्ग लोक के दिव्य भोगों को भोगता हुआ हर्षपूर्ण वन कर वहुत काल तक आनन्द लूटता है![1] अर्थात यदि कोई मुमक्षु भरसक अभ्यास करे तो भी अपने तात्विक स्वरूप लाभ को न प्राप्त करे तो भी उसकी साधना निष्फल नहीं होती! मृत्यु के पश्चात् वह स्वर्गादि दिव्य लोको में जाकर वहुत समय तक आनन्द भोगता है! दुष्टांत द्वारा वताया जा रहा है कि जिस प्रकार सभी भुवन मडंलो में चक्रवर्ती राजा सभी लोगो के द्वारा पूजा जाता है वैसे ही सभी स्वर्ग आदि दिव्य लोकों में योग भ्रष्ट (उस योगी का नाम है जिसे अभ्यास करते हुए सांसारिक भोग भोगने की वासना रहे इसी कारण वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है) भी सब देवताओ द्वारा पूजनीय वनता है!

संक्षेप में स्वर्ग आदि लोको में दिव्य भोगों को भोगने के उपरान्त पुनः बहुत समय के अनन्तर योगाभ्यास के योग्य मनुष्य देह को पा कर योग का अभ्यास करके अलौकिक मोक्षरूप अमृत को प्राप्त करता है! जिसके फलस्वरूप दुवारा इस विश्व में नहीं लौट कर नहीं आता जीवन मरण के चक से छूट जाता है! अतः योगी को योगभ्रष्टता से वचने के लिए स्वरूप साक्षात्कार हेतु जैसे-वैसे प्रयत्न पूर्वक अर्थात रूके विना योगाभ्यास में आगे वढ़ना चाहिए जिसे अल्प समय में ही हृदस में व्याप्त शिव भाव को अति शीध्र प्राप्त किया जा सकता है!

---

1. परमार्थमार्गमिनं ह्यभ्यस्याप्रप्य योगमपिनाम

सुरलोकभोगभागी मुदितमना मोदते सुचिरम् - पाख्सा०, का० 100

भैरव याग (अध्यात्म यज्ञ)

काश्मीर शैव दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान लक्ष्मणजी स्वामी ने अपनी रचना क्रमनयदीपिका में कहा है कि वाह्य जप तप, दान, होम यज्ञ इत्यादि की अपेक्षासे शैवदर्शन में इनका अध्यात्मपरक अर्थ सर्वमान्य है! विद्वानो ने इसीलिए इसको भैरव याग् से सम्बोधित किया है परमार्थसार में अभिनवगुप्त ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है-

इसमे (भैरवयाग्) उसका (योगी या साधक) का कोई भी देवता अपने स्वरूप से भिन्न सतुति के योग्य अथवा होम के योग्य नहीं होता, जिसकी स्तुति आदि करके वह योगी प्रसन्न वनता अतः ऐसा जीवन मुक्त साधक नमस्कारों और वषटकारो से छूटा हुआ मुक्त है![1] क्योकि उसकी आत्मा ही उसका देवता है जिसकी वह स्तुति करनें में आनंद अनुभव करता है!

अद्वयज्ञान स्वरूप ज्ञानी के लिये न कोई देवता स्तुत्य होता है और न होतव्य क्योंकि उससे भिन्न कुछ नहीं होता जिसका स्तुति या हुति की जाए! और न कर्तव्य मानकर वह आत्मज्ञ स्तोतादि के द्वारा परितोष पा सकता है क्योंकि अद्वय ज्ञान का मजा लेने से नित्य आनन्दमय हो जाने के कारण वह कृत्रिम आनन्द का (जो स्तोन आदि से प्राप्त होता है) आदर नहीं करता

1. स्तुत्यं वा होतत्य नास्ति व्यतिरिक्तभरय किंचन च!
स्तोत्रादिना स सुष्येन् मुक्तस्तन्निर्नमस्कृतिवषट्कः!! (पार० सा० क० 73)

देवगृह- अपने से भिन्नदेवमन्दिर से भी उपयोग (काम) नहीं आत्मदेवता का अधिष्ठान अथवा संवित् का आधार अंपना शरीर ही और कोई नहीं, उसका देवमन्दिर है! छत्तीस तत्वों पर आधारित शरीर की वनावट के रूप में वातयानं से युक्त अपना या पराया शरीर अथवा घड़ा उस साधक का देवालय है![1]

उस ज्ञानी का अपनी या दूसरे की देह ही देवता का घर है क्योंकि वही स्वात्मदेवता के भोग्य का आधार है! बाह्य मेरू आदि प्रसाद तभी देवगृह वनते हैं जब गुरू द्वारा छत्तीस तत्वों की गणना रूप शरीर की व्याप्ति से परिकल्पित होते हैं अर्थात जैसे शरीर छत्तीस तत्वात्मक है उसी प्रकार जब देवमन्दिर को भी छत्तीस तत्वात्मक शरीर प्रतिष्ठा विधि द्वारा लिया जाता है उसमें स्थिति देव बाह्य होने पर भी आत्मा की व्यापकता के कारण चिन्मय मान लिया जाता है तभी वह देव कहलाता है, अन्यथा दोनों ही मन्दिर और उसमें प्रतिष्ठित देवता जड हैं, पत्थर के टुकड़े के समान हैं वे कैसे भक्तों का उद्धार करेगें अथता मरे हुयें को सामीप्य प्रदान कर सकेंगे? इस प्रकार शरीर संवित् का आश्रय होने के कारण, देवगृह है? वह कैसा देवग्रह है इसका उत्तर छत्तीस तत्वों से युक्त! देहरूप देवमन्दिर तो साक्षात छत्तीस तत्वों से भरा हुआ, पोषित है! बाह्य मन्दिर में झरोखे लगाये जाते हैं, और यह (देह मन्दिर) विग्रह (शरीर) में रचना अर्थात् रूप द्वारों की प्रणाली रूप अन्धकार दूर करने की कल्पना से परिपूर्ण या अक्षुण्ण है! अतः बाह्य देवगृह के समान शरीर संवित से अधिष्ठित है अतः वह देव गृह नहीं जो कुछ भी संवित से अधिष्ठित है वह सब उसका देवमन्दिर है, अथवा घट आदि! घटादि से ध्वनित ये पंच विषय जो चक्षु आदि के माध्यम से भोग्य रूप हैं वे संवित् से अधिष्ठित है; भोक्ता ही भोग्य के रूप में सदा सर्वत्र विद्यमान है![2]

इस दृष्टि से (भोग्य) संविद्रप ही है! ज्ञानी के लिये भौतिक शरीर के समान घटादि विश्व भावशरीर है अतः वह भी अभिन्न है और अपने शरीर के समान देवता का घर है-क्रड़ा शील स्वतम्त्र स्वात्मदेव का घर अर्थात् भोग्य का अधिष्ठान है!

---

1. षटत्रिंशतूत्वभृत विग्रह रचानागवाक्ष परिपूर्णम!
विजमन्यदथ शरीरं धटादि वा तस्य देवगृहमू!! (पारमार्थ सा०, का० 74)
(स्पन्दकारिका)

वाह्य देवमन्दिर में भक्त को धूप, दीप पुष्प आदि लाकर देवता की पूजा में तत्पर देखा जाता है परन्तु वहाँ परमात्मा महाभैरव शिव देवता, जो अपनी शक्ति से युक्त है, की आत्मपरामर्शरूप अति निर्मल द्रव्यों से पूजा करता रहता है![1]

उस अपने देह रूपी देवता के मन्दिर में उत्कृष्ट योगी "परमात्मा" सर्बातिशायी चैतन्यरूप आत्मा जो सम्पूर्ण शब्दादि विषयोपयोग को विलीन करने में निपुण होने से भैरव, भरण शब्दन और बमन स्वभाव का, है वही शिवदेवता, प्रकृष्ट कल्याण स्वरूप देव है उसकी पूजा करता रहता है! अपनी शक्तियों से युक्त चैतन्य की किरण भूत चिद, आनन्द, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियों की विमव रूपिणी जो चक्षु आदि की अपनी इन्द्रिय शक्तियाँहे उनसे चारों ओर से समन्वित आत्मपरामर्श से शिवदेवता को पूजता है! यह सब आत्मा ही है यह जो विमर्श अर्थातृ सभी पदार्थो के सवित रूप होने से पूर्ण अहन्ता रूप जो परामर्श है उससे द्वैत की कालिमा का कलंक मिट जाने से जो शब्दादि पांच विषय रूप पूजा के लिए द्रव्य हैं वे जाड़य के दूर हट जाने से अतिनिर्मल हो जाते हैं उन स्वात्म विमर्श से शुद्ध द्रव्यों से शिव देवता की पूजा होती है अर्थात ज्ञान हेय और उपादेय के भेदकलंक को छोड़ कर श्रोत्रादि इन्द्रियों की (अधिष्ठात्री) देवियों द्वारा विना किसी प्रयास के लाये हुए शब्दादी पांच विषयों की (अधिष्ठात्री) देवियों द्वारा विना किसी प्रयास के लाये हुए शब्यादि पांच विषयो का वाहर से हटाकर अन्तरपट में चमत्कार का अनुभव करते हुये अपनी आत्मा के साथ अभेद स्थापित कर देता है और इस प्रकार प्रत्येक विषय को ग्रहण करते समय जो अन्तस भेद के कारण सदा चमत्कार, पूर्ण अहन्ता का स्फुरण हुआ करता है वही स्वात्म देवता का पूजन है! अत एव शब्दादि विषय पूजा के उपकरण हैं! अतः सावधान साधक विषय ग्रहण करते समय प्रतिक्षण आत्म देवता का पुजारी वने रहना चाहिए! अतः भैरवयागृ रूप उपासना में साधक को बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती! इसके लिए उसकी देह ही मन्दिर और जीवस्वयं शिव है![2]

---

1. तत्र च परमात्ममहाभैरवशिवदेवत्तं स्वशक्तियुतामृ!
   आत्मामर्शन विंमल द्रव्यैः परिपूजसन्नास्ते!! (पार० सा०, का० 75)
2. देहो देवालयो देवि! जीवो देवः सदाशिवः!
   त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेतृ!!

होम

वाहर अन्दर की कल्पना रूप भेदमहाबीज के समूह को अत्यन्त प्रदीप्त सविद्रूप अग्नि अर्पण में करने वाली उस ज्ञानी को होम विना प्रयत्न के होता रहता है![1]

शरीर से वाहर पदार्थ वर्ग तथा अन्तःकारण में ठहरे हुए सुख दुःख आदि कल्पनाओं का रूप धारण करने वाले वढ़े भयंकर भेद प्रथा से युक्त संस्कार के रूप में ठहरे हुए वीज के समूह को अतिदीप्त अर्थातू अत्यन्त प्रज्वलित ज्ञान रूपी अग्नि में अर्पण करने वाले उस योगी को जौ, घी, ब्राह्मण आदि सामग्री जुटाने के बिना अनायास ही हवन सिद्ध होता है![2]

स्वात्म देवता का यजन करने वाले उस ज्ञानी का पूर्ण अहन्ता चमत्कार से प्रकाशित चैतन्य अग्नि में विना प्रयत्न तिलआज्य, ईंधन आदि को स्वीकार करने की पीड़ा के विना होम वहिन में अर्पण हो जाता है! वाहर अर्थात नीलादि प्रमेय में जो अपने और पराये प्रमाता की कल्पना है और अन्दर के अन्तर्ग्राह्य सुखादि के वारे में जो सकल्प है, और इस तरह बाह्य प्रमेय और अबाह्य प्रमाता के वारे में निश्यच सकंल्प और अभिमान के रूप में "भेद" या नानात्व है वही "महाबीज" है क्योकि प्रमाता और प्रमेय की उसी से उत्पत्ति होती है, कल्पना स्वरूप भेद बीज का समूह, भेद के अनन्त होने के कारण उसकी राशि को पूर्ण अद्वय की दृष्टि से विकल्प शून्य संवितू स्वरूप में समावेश के द्वारा आत्मवुद्धि में हवन करते हुये ज्ञानी का होम होता है अभिप्राय यह है कि पर-ब्रह्मात्मक योगी का, देहादि में प्रमाता का अभिमान न रहने से, जो स्वभावसिद्ध अपने पराये प्रमाता और प्रमेय की गणना का नष्ट होता है, वही स्वाभाविक होम है! शिवसूत्र में भी साधक के होम कार्य के विषय में कहा है कि शरीर ही उसकी हवि है![3]

---

1. माहभूतलये वहन्नौ भूताक्षविषयादिकमू!
   हुयते मनसा सार्ध स होमश्चेतनास्त्रुचा - विज्ञान भैरव, 149
2. बहिरन्तरपरिकल्पन भेदमहाबीज श्चियमर्पयत:!
   तस्यातिदीप्तसविज्ज्बलने यत्नाद्विना भवति होम:!! - पार० सा०, का० 76
3. शरीरं हवि!! - शिव सूत्र सू० 8

ध्यान

निश्चय करके यही शिव रूप वना हुआ परम-योगी फिर अर्थात अवधारण करके संसार में दीखने वाले विस्मयकारी रूपों की बुद्धि दर्पण में अवमासित करता रहता है! सकंल्प के द्वारा संवित् की भित्ति पर अंकित कभी समाप्त न होने वाला पारमार्थिक भावमय अर्थात् प्रथमाभासरूप ध्यान कहलाता है![1]

ज्ञानी का ध्यान अविवाशी है क्योंकि वह भगवान विचित्र रूपों की सृष्टि करता है! जिसके पारमार्थरूवरूप का आलेखन संकल्प से होता है वही ध्यान है!

जिस आकार के एक निश्चित रूप में सोचा जाता है वह मनोवृत्ति अन्यत्र जाने पर नष्ट हो जाती है पर ज्ञानी का ध्यान अविनाशी है क्योकि यह भगवान अनन्त आत्मस्वरूप महेश्वर क्रियाशक्ति स्वरूप विकल्पों के स्वातन्त्र्य से जिन विचित्र रूपे की सृष्टि करता है अर्थात नाना पदार्थरूप विकल्पात्मक आकारों को बुद्धि दर्पण में सदा प्रतिबम्बित करता रहता है वही इस ज्ञानी का लय और उदय से विहीन है इससे भिन्न ध्यान कुछ भी नहीं है दूसरे देवत्विशेष का ध्यान करने में तो अनेक मुख आदि अङ्गो की परिकल्पन करने से नैयत्य आ जायेगा! सारा मनोव्यापार परम शक्ति के बिकास का पुल्लव है यह जानने वाले के लिए उपाधिरहित यह सब परमेश्वर वन जाता है! तथा "संकल्प" अर्थात मन से आलेखन अर्थात संवित् के आधार में चित्र निर्माण जिसका परमार्थ रूप है वह विकल्पों से उल्लेखित संविद्भित्ति में चित्र की तरह बनाया हुआ होने से मनोव्यापारूप संकल्पात्मक होने पर भी प्रकाश से भिन्न न होकर ही सत्य है क्योंकि संवित् सभी में अनुस्यूत है! योगसूत्रकार ने ध्यान को चित्तस्थैर्य का साधन माना है!

शुद्ध विद्या का परामर्श ही स्नान शुद्धि, अर्चना होम ध्यान जप आदि है! बाह्य कर्मकाण्ड तो मायीय होने के कारण भेद को उत्पन्न करता है![2]

---

1. ध्यानमनस्तमितं पुनरेष हि भगवान् विचित्ररूपाणि!
   सृजति तदेव ध्यानं संकल्पलिखित सत्यरूपत्वम्!! - पार० सा०, का० 77
2. शुद्धविद्यापरामर्शो यः स एव त्वनेकधा!!
   स्थानयुद्धचर्चना होमध्यानजप्यादि योगतः!
   विश्वेतेतूस्वसंवित्तिरसनिर्भरितं रसान्!! - 115
   आविश्य शुद्धी निखिलं तर्पयेदध्वमण्ड्लम्!
   उल्लसिबोधवहुतभुग्दग्धविश्वेन्धनोदिते!! - 116
   सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्वानमुच्यते!
   इत्थं च विहितस्नानस्तर्पितानंतदेवतः!! - 117

विज्ञान भैरव मे भी ध्यान के सम्बंध में उल्लेख मिलता है![2]

जप

यह उत्कृष्ट योगी जो कि सभी एक सौ अठारह भुवनो की पंक्ति छत्तीस तत्त्वों की क्रमिक कल्पना, और इन्द्रियों की वृत्तियों को संवित् चेतना में धुमाता है अर्थात् पराहन्ता से युक्त प्रत्यवर्मश करता रहा है! वही इस योगी का वास्तविक जप कहलाता है![4]

समस्त भुवनावली को, तत्त्वक्रम की कल्पना को और इन्द्रिय समूह को जो अन्तर्बोध में परिवर्तित कर देता है, वही इसका जप है![5]

विश्व का प्रतिक्षण अभेद से पूर्ण अहन्ता में विमर्श ही इसका सहज रूप में जप कहा गया है! छत्तीस तत्वग्राम के अन्दर रहने वाली दो सौ चवालिस की सम्पूर्ण प्रकार पक्ति को तथा तत्वक्रम की कल्पना को अर्थात तत्वक्रम या आत्मविद्या-शिव के परिच्छेद को और अन्तः बाह्य रूप इन्द्रियसमूह को जो अन्तबोध अर्थात् मध्यम प्राणशक्ति के रूप में घर वनी हुई आत्मसंवित् में नाद और विन्दु के प्रवाह के द्वारा परिवर्तित. कर देता है अर्थात् रहट की तरह प्रत्येक प्राण बिक्षेप में सृष्टि, स्थिति तथा सहांर के क्रम से सव कुछ को अपनी संवित में धुमाता रहता है वही पूर्ण अहन्ता में विश्राम स्वभाव का सहज जप है! वाच्यरूप देवता के वाचक मन्त्र का उच्चारण ही जप है, उसकी गणनां प्राणशक्ति में व्यापक अक्षमाला में अक्ष (इद्रिय तथा गुरिया) को चलाकर की जाती है किन्तु परमाद्वय के योगी के लिये तो अपनी प्राणशक्ति तन्तु तन्तु स्थानीय है जो मध्यमप्राण में प्रवाह की तरह नाद करती हुई सहज उदित है तथा सभी गुरियों को क्रोडीकृत करने वाली स्वाभविक अक्षमाला है! चूँकि छत्तीरातत्वात्मक यह वाच्य विश्व प्राय शक्ति में प्रतिष्ठित है अतः प्रत्येक प्राण विक्षेय में उदय और व्यय के द्वारा परास्वभावा भगवती प्राणस्वरूप का आश्रय लेकर विमर्श करती हुई प्राणें के प्रत्येक स्पन्दन

---

2. यत्किञ्चिन्मान साह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ! 118
   योज्यतें ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोकरणं हि तत्!
   पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि संगतिः!! 221
   स्वतन्त्र विमलानन्तभैरवीयचिदात्मना! - तन्त्रालोक० चतुर्थ० आहिन्राक०
3. ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निवशकार निराश्रया!
   न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना!! - वि० भै०, 147
4. भुवनावलीं समस्तां तत्त्वक्रमकल्पनामथाक्षगणम्!
   अन्तर्बोधे परिवर्तयति यत्सोऽस्य जप उदितः!! - पार० सा०, का० 78

में सवधान योगी का सहज जप साधती है![5]

दैवी का इक्कीस हजार छह सौ सात दिन का सहज जप वताया है, जो अज्ञानी के लिये दुर्लभ है! शिवसूत्र में भी कहा है![6]

व्रत

सबको सम दृष्टि से जो देखता है और जो विश्व श्मशान में निरत तथा विग्रह शरीर की खटवांगकल्पना वाली संवित् को मानता है तथा यह जो वेद्यखण्ड़ के कपाल को, जो विश्व के रसासव से पूर्प तथा अपने हाथ में पकड़ा हुआ है, रसियाता है वही इसका सुलभ और दुर्लभ व्रत है![6]

ज्ञानी का व्रत स्वात्म देवता के आराधन के लिये नियम है, जो दुर्लभ भी है और सुलभ भी! दुर्लभ इसलिये क्योंकि अख्याति का विनाश दुःख से होता है और वह दूसरे उपायों को छोड़ देने वाले परमेश्वर के अनुग्रह से पाया जाता है! 'सुलभ' इसलिए है क्योंकि अस्थि भस्म आदि के आभरण और आहार के नियमों को स्वीकार करने की पीड़ा के वगैर सुख से पा लिया जाता है! यह सव जो प्रातीतिक भेदप्रकाश है वह युक्ति, आगम और अनुभव के परामर्श के द्वारा अभेददृष्टि से 'एक मै' इस सब के रूप में प्रकाशमान हूँ, आदि के रूप में अभेद वुद्धि का दृढ़ करना ही व्रत है! और जो विश्वश्मशान में निरत संवित् को मानता है' वह भी व्रत है! प्रमेय और प्रमाता के स्वभाव का तथा घट-देहादि जड़स्वरूप सैंकड़ो पदार्थ श्वो छाये होने से विश्व श्मशान के साथ समता वताई गई है इस विश्वश्मशान में जो उत्पत्ति और विनाश के कारण अत्यन्त भीषण है, उसके वीच संवित् पूरी तौर से व्याप्त है, यह जो जान लेता है! व्रत करने वाला श्मशान में रहता है पर यह अलौकि व्रती है जो 'सर्वत्र' में ही, एक संवितत्त्व के परमार्थवाला हूँ यह मानकर जड़ पशु प्रमाताओं

---

5. (क) सनियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्!
   एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः!! - जपसूत्र पृ० 38
   (ख) तज्जपस्तदर्थ भावनम्! - योगसूत्र 1-28
   (ग) जपः सोडत्र स्वय नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः! - विज्ञानभैरव 145
6. कथः जप - 3; उ० 27 सू०

तथा प्रेत के समान घटादि प्रमेयों के साथ पागल की तरह क्रीड़ा करता हुआ इस ससांर की धरती को श्मशान समझता हैं! जो सवित् को विग्रहरूपी खटवांग की कल्पना से युक्त मानता है! अपने शरीर में प्रमातृता के अभिमान का दुराग्रह समाप्त हो जाने से अपने शरीर से परे मानने वाले योगी का सस्कार से बचा हुआ विग्रह मुर्दे के समान होता है, अपने शरीर की खट्वांग की कल्पना करना अर्थात कंकाल मुद्रा मानना और उस मुद्रा से युक्त संवित को समझना क्योंकि वह मोग्य का आधार है, (योगी का व्रत है) श्मशान में रहने वाला वीरव्रती की खट्वांग मुद्रा होनी चाहिए अतः स्वंसवित् स्वरूप योगी का अपने शरीर को भी वेद्य होने के कारण भिन्न समझना ही खट्वांगमुद्रा है, यह भी इसका व्रत है! तथा वेद्य रवप्पर के कपांल को रसियाता - चर्णण करता है! शब्दादि पाँच बिषयो के रूप में सभी के द्वारा भोग्य वेद्य ज्ञेय और कार्य के रूप में अवच्छिन है; वह रवप्पर के समान है और वही कपाल, खोपड़ी की हड़डी का टुकड़ा है डसे रसियाता है अर्थात् सार खीचं कर पूर्ण अहन्ता में विश्राम द्वारा चमत्कार करता है, यह भी व्रत है![1]

व्रती कपाल में रखे हुये वीरापान का रस लेता है, विश्व के रसासव आदि! विश्व में अर्थात वेद्य शब्दादि पांच विषयों के कपाल खण्ड में जो सारभाग, चर्वण के लिये अमृतमय अंश है, वही परमानन्द देने के कारण रसा सव या उत्तम पान कहलाता है उससे पूर्ण है! इससे प्रतिपादित होता है कि पात्र के समान विश्व का जो छिलके वाला कठिन अशं है वही कपाल है उसमें विद्यमान सारांश चमत्कार योग्य है अतः आनन्द देने के कारण पान है! कपाल

1. (क) सर्व समया दृष्टया यत्पश्यति यच्च सविदं मनुते!
विश्वश्मशाननिरतां विग्रहखटवाङ्गकल्पनाकलिताम्!
(ख) विश्वरसासवपूर्ण निजकरगं वेधरवण्डककपालम्!
रसयति च यत्तऐतद् व्रतमस्य सुदुर्लभं च सुलभं च!! - पार० सा० का० 79-80

व्रती के हाथ में होता है अतः बताते है अपने हाथ में रखे हुये! अपने अर्थात् स्वकीय जो 'कर' चक्षु आदि इन्द्रिय देवियों की चेतना किरणें उनमें पेद्य खण्ड़, भोग्य होने से, विषय बन जाता है अर्थातू सभी वेद्य चेतना की किरणों में भोग्य बन कर रहते हैं) जैसे हाथ में रखे हुये कपाल से पान किया जाता है उसी प्रकार योगी द्वारा वेद्यखण्ड़ रूपी कपाल से विश्व का रसासव चक्षु आदि की चेतना की किरणों से, खीचकर पिया जाता है! आश्य यह है कि योगी सदा ही आने के अनुसार पाँचो विषयों को इन्द्रिय देवताओं से खींच कर युक्ति से अपने चैतन्य भैरव में अनवच्छिन्न विश्रान्ति का सेवन करता हुआ अन्तिम क्षण तक उपदेश के अनुसार अद्वय की दृष्टि का निर्वाह करता है! सदगुरू के चरणकमलो का सेवन करने वाले योगी का यही व्रत है वाकी सब तो शरीर को सुखाना भर है!

अभिप्राय है कि समदृष्टि से देखना, विश्व को वड़ा होने के कारण शमशान मानना, शरीर को ही खट्वांग समझना, शब्दादि विषयों को अपनी इन्द्रिय किरणों से लाकर वेद्य कपाल में उत्त्म पान करना योगी का व्रत है! वस्तुतः शरीर से वाहर न कोई मन्दिर है और न श्मशान समग्र साधना का आधार शरीर है!

अतः परम ज्ञानी का आन्तरिक जप ध्यान साधना देवालय तथा व्रत आदि भैरव याग् कहलाता है! जिसमें (भैरवयाग्) उसका (ज्ञानी) शरीर देवालय है और अज्ञान रहित आत्मा देवता है शरीर से वाहर पदार्थ वर्ग तथा अन्तः कारण में ठहरे हुए सुख दुःख आदि कल्पनाओं का रूप धारण करने बाले सस्कार को ज्ञान रूपी अग्नि में अर्पण करना योगी का हवन है शिवरूप वने हुये योगी का ससांर में दीखने वाले विस्मयकारी रूपों को वुद्धिदर्पण में अंकित पारमार्थिक प्रथमाभास रूप ध्यान है और एकसौ अठारह भुवन छत्तीस तत्वो की कल्पना तथा इन्द्रियों की वृतियों को सवित याचेतना में घुमाना अथवा प्रत्यविमर्श करना जप है और अस्थि पिंजर की कल्पना से गृहीत ससांर रूपी शमशान में वास करना, शरीर को खटबांग मानना तथा शब्दादि विषयों अर्थात् रस का कपाल में आस्वाद अर्थात चमत्कार का अनुभव करना योगी का उत्तम व्रत है! इस प्रकार शिंवमय हुए परम योगी की ये सभी क्रियाएँ उसका भैरव याग् कही जाती हैं!

चतुर्थ अध्याय

परमार्थसार का अन्य भारतीय दर्शनो में स्थान

परमार्थसार का अन्य भारतीय दर्शनों में स्थान

भारतीय दर्शऩों का लक्ष्य परमतत्व को जानना और इसे प्राप्त करना है इसलिए यह दर्शन· परमतत्व की सिद्धि के लिए दृष्टादिया ज्ञाता आदि भिन्न भिन्न स्थियों के अनुसार दर्शनों को क्रमवद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है!

ज्ञाता के लिए वह सव जानना आवश्यक है जिनको जाकर वह परमतत्व तक पहुँच सकता है! ज्ञाता या दृष्टा की स्थिति के अनुसार ही ज्ञान हो सकता है! हम (मनुष्य) में जो परमतत्व आत्मा है वह दृष्टा है और जो अपवर्ग की चाह करता है वह ज्ञाता जीव है! जीव बद्ध है और आत्मा मुक्त है! यह जीव कैसे मुक्त हो इसके लिए मुक्त होने के साधन और साध्य का ज्ञान आवश्यक है! यह विश्वरचना किस प्रकार होती है और उसमे जीव कैसे वनता है यह उस परमतत्व से वनें हुए तत्वों का ही खेल है! आत्मा का स्वभाव और उसकी तत्वरूपता को जानकर ही जीव मुक्त हो पाता है! अज्ञान की अवस्था में जीव सान्सारिक विषय भोगों में स्वयं को भुला रहता है! शरीर सुख व ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष तक ही उसका ज्ञान सीमित होता है! इससे परे ही कुछ है इसकी वह कल्पना भी नहीं करता! लेकिन यह स्थिति सामान्य जीवों की है! इनसे उपर के विवके सम्पन्न मनुष्य संसार (लोक से परे की पररलौकिक धी सखते हैं! लेकिन यह परलौकिक ज्ञान होने विना पूर्व ज्ञान नहीं होगा यह ज्ञान वेदादि अपौरूषेय शास्त्रों से हो पाता है!

जे आगम-निगम दो श्रेणियों में विभक्त है! स्मृति, वेद उपनिषद ये निगम शास्त्र हैं तथा तन्त्र या मल ये आगम शास्त्र हैं! इसमें जो वेद वेदान्त निगम तन्त्र या मल आगम शास्त्र· हैं तथा स्मृति, पुराण यह अगम निगम शास्त्र हैं! इन शास्त्रों के अनुसार हमारे दर्शनों की दो श्रेणियां हैं

(1) निगमात्मकत और (2) आगमात्मक!

न्याय वैशेषिक वेदान्त और मीमांसा ये निगमात्मक हैं तथा सांख्य योग आगमनिममात्मक हैं और त्रिकदर्शन (स्पन्द शिवसूत्र प्रतिभिज्ञा) आगमात्क है! निगम दर्शन जीव और ब्रह्म के सम्बन्धो को प्रतिपादित करते हैं! इनमें जीव प्रमाता, जगत् प्रमेय और आत्मा (ब्रह्म) प्रमेय है! आगम दर्शन आत्मा या परमात्मा के सम्बन्धो का निरूपण करते हैं! इसमें आत्मा 'अनु ' प्रमाता, और परमात्मा शिव विराट् (विभु) पर्माता है अर्थात आत्मा वयष्टि और प्रमाता समष्टि है! वयष्टिं प्रमाता सकल् और समष्टि प्रमाता निसकल प्रमता है! इसलिए निगम भूमि में दर्शनों को जीव के ज्ञाता स्वरूप के भिन्न भिन्न स्वरूपों के अनुसार प्रस्तुत किया गया है इसमें इसका सामान्य रूप ज्ञाता रूप सांसारिक होता है! ससांर से परमतत्व की ओर ले जाने के लिए जो दर्शन प्रस्तुत किये गये न्याय वैशेषिक के नाम से जाने गये! न्याय में शरीर इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृति दोष, एक्यभाव, फल और दुःख और अपवर्ग को प्रमेय के रूप में लिया है इनको जानकरके जीव अपवर्ग की सिद्धि कर सकता है! न्याय का परमतत्व ईश्वर है जिसकी कृपा से जीव अपवर्ग की सिद्धि कर सकता है ईश्वर से प्रेरित जीव कर्मों में लगता है और उसी की कृपा से अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है! इस ईश्वर की सिद्धि न्याय में प्रमाणों के द्वारा की जाती है! वैशेषिक दर्शन न्याय का ही एक रूप है न्याय के प्रमेयों का धर्म वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित किया है! यह धर्म, धर्म विशेष से ही या भिन्न भिन्न धर्मो के कारण न्याय दर्शन में प्रस्तुत प्रमेय भिन्न हैं! ये इसलिए वैशेषेक में धर्म विशेष द्रव्य गुण, कर्म सामान्य, विशेष, तथा समवाय ये छः पदार्थों का तत्व ज्ञान परमार्थ (अपवर्ग) सिद्धि के लिए आवश्यक वताया है वैशेषिक के द्रव्य वही हैं जो न्याय के प्रमेय हैं गुणादि वैशेषिक में विशेष हैं!

वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश, मन, काल, दिक् और आत्मा इन नौ को द्रव्य कहा गया है! इन्ही से अलग-अलग गुण क्रर्म आदि हैं! बैशेषिक में परमतत्व वयष्टि आत्मा को लिया गया है! इसी की शक्ति से शरीर कार्य करता है! यही शरीर में विशेष है! बैशेषिक में जगत् की उत्पत्ति परमाणु से मानी है तथा तत्वज्ञान से मुक्ति को समंभव वनाया इन दो दर्शनों के पश्चात साख्ँय और योग दर्शनो का स्थान है इस भूमि में (साख्ंय और योग की) तत्वों और ईश्वर का सूक्ष्म विवेचन किया है! साख्ंय में प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त चौबीस तत्व वतलाये गये हैं! और पच्चीवां तत्व पुरूष वताया गया है! इसके भी वयष्टि और समष्टि रूप है वयष्टि और समष्टि रूपों को बद्ध रूप में प्रतिपादित किया गया है! साख्ंय का विशेष लक्ष्य प्रकृति और उसके व्यापार को समझना है जिसके अधीन प्रकृति या उसका वह मक्त पुरूष है जो न्याय का ईश्वर है और प्रकृति से वंधा पुरूष है वह वद्ध पुरूष (जीव) है जो बैशेषिक की आंत्मा है और योग का साधक है! विना प्रकृति और व्यापार को जाने जीव मुक्त नहीं हो सकता यह साख्ंय की मान्यता है! योग दर्शन इन्ही तत्वों का स्वीकार करता है जो साख्ंय में है! योग की विशेषता यह है कि वह प्रकृति से मुक्त होने का साधन प्रस्तुत करता है जिसे अष्टाँग योग कहते है! न्याय वैशेषिक वस्तुतः स्मृति दर्शन कहे जाते है साख्ंय, योग पौराणिक दर्शन हैं! इससे आगे मीमांसां दर्शन और वेदान्त औपनिषद दर्शन है मीमासा दर्शन कर्म मीमांसा और वेदान्त ज्ञान मीमांस है! विना कर्म के ज्ञान सम्मव नहीं है इसलिए मीमांसा दर्शन में नाना प्रकार के यज्ञादिकर्मो का निरूपण किया गया है!

मीमांसा में तत्वों को पदार्थ, जगत्, शक्ति, आत्मा, के रूप में प्रस्तुत किया गया है! मीमांसा में शक्ति तत्व विशेष है! जो आगम दर्शन की पूर्व सूचना प्रस्तुत करता है! शेष तत्व पूर्व दर्शनों के ही अनुसार (अनुकूल) ही हैं! वेदान्त में परमतत्व को ब्रह्म के रूप में लिया गया है! यही मूल तत्व कहा गया! इसके विर्वत को माया कहा गया है! जो पांच कोशों को

रचना करती है! वेदान्त में साँख्य के पच्चीस तत्वों के अतिरिक्त पंच प्राण जीव, माया, और ब्रह्म कुल तैत्तीस तत्वो को माना गया है! -

आगम दर्शनों में तत्व और सृष्टि का जिस ढगं से निरूपण किया गया है! वह इन षड़दर्शनों में इस प्रकार नहीं दिया गया है! ये त्रिक दर्शन (स्पन्द शिवसूत्र और प्रतिभिज्ञा) काश्मीर शैव दर्शन या त्रिक दर्शन से जाने जाते है आगम शास्त्र इनके स्रोत हैं! परमार्थसार में इस दर्शन की तत्वमीमांसा प्रस्तुत की गई है! तथा किस प्रकार वह परमतत्व अपनी ही शक्ति द्वारा अपने ऐश्वर्य को माया, प्रकृति और पृथ्वीआण्ड के रूप में प्रकट करता है तथा किस प्रकार वह शिव से पशु वनता है फिर कैसे पशु से शिव वनता है! परमार्थसार में छत्तीस तत्वों से वनने वाले चतुश्चाण्ड का सम्पूर्ण ज्ञान प्रस्तुत किया गया है! शिव से पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्व जो उस परमेश्वर के वैभव रूप हैं इस प्रकार मुक्त शिव को वद्ध जीव में वदलते है तथा किस प्रकार चार अण्डो की रचना होती है इसका विज्ञान प्रस्तुत किया गया है! प्रत्येक अण्ड़ में कौन-कौन तत्व कार्य करते हैं इसका निरूपण भी किया गया है! शिव, शक्ति, सदा-शिव, ईश्वर और सत् विद्या ये शाक्ताण्ड़ के कार्यकारी हैं! माया, काल कला नियति राम और अविद्या ये मायाण्ड़ वनाते हैं! प्रकृति, वुद्धि, मन, अहंकार मिलकर प्राकृताण्ड़ वनाते हैं! ज्ञान, कर्मोन्द्रियां और पंचभूत पार्थाण्ड हैं!

इसमें (परमार्थसार) वे सारे तत्व समाहित किये हुए हैं! जो अन्य षड़दर्शनों में क्रमिक रूप से प्रस्तुत किये गये हैं! तथा परमतत्व का उसके ऐश्वर्य और सामर्थ्य के साथ ज्ञान प्रस्तुत किया गया है! तथा उस शुद्ध अद्वैत भूमि का ज्ञान जो वेदान्त से भी उपर है जब माया का ब्रह्म विलय हो जाता है तब ब्रह्म का क्या स्वरूप है इसका ज्ञान परमार्थसार प्रस्तुत करता है! वह एक से अनेक कैसे होता है तथा अनेक में वह एक किस प्रकार है वह चैतन्य से शुन्य कैसे होता है और शुन्य से चैतन्य कैसे होता है! इन सभी रहस्यों का

उद्‌धाटन किया गया है! इसमें अपवर्ग रूपा परमात्म को साररूप में प्रस्तुत किया गया है तथा उसकी सिद्धि के सूत्रों को भी दिया गया है इसके अध्ययन से परमेश्वर की सारी लीला स्पष्ट हो जाती है! इससे यह दर्शन सभी दर्शनों का शिरोमणि दर्शन है!

इसका अर्थ यह नहीं हैं कि अन्य दर्शनों का महत्व नहीं प्रमाण ज्ञान के लिए न्याय, पदार्थ धर्म के लिए बैशेषिक, प्रकृति की प्रक्रिया के लिए सांख्य मुक्ति अभ्यास के लिए योग कर्म निष्ठा सिद्धि के लिए मीमांसा और ज्ञानसिद्धि के लिए वेदान्त की अवश्कता फिर भी वनी रहती है! और सम्पूर्ण मुक्ति के लिए या आत्म चैतन्य के लिए त्रिक दर्शन की अवश्यकता है! परमार्थसार में एक साथ सभी तत्वों का ज्ञान और विज्ञान प्रस्तुत किया गया है जो कि अन्य दर्शनों में नहीं है इसलिए तत्व-मीमांसा की दृष्टि से परमार्थसार सर्वोपरि है! न्याय के प्रमाण वैशेषिक का धर्म सांख्य की प्रकृति योग के साधन तथा मीमांसा के यज्ञ एवं वेदान्त का ज्ञान साधक के लिए आवश्क है लेकिन ये सव दैत भूमि से सम्बधं

रखाता है लेकिन त्रिक् का आत्म चैतन्य या शिव भाव शुद्ध अद्वैत की भूमि है जिसमें जीव भाव का अभाव हो जाता है ज्ञाता स्वरूप दृष्टा रूप में वदल जाता है! दृष्टा स्वरूप की प्राप्ति परमार्थसार जैसे दर्शन के ज्ञान और अभ्यास से होती है अतः यह शुद्ध अद्वैत रूप से साधन सम्पन्न शास्त्र होने से सर्वोपिरि स्थान रखता है! परमार्थसार के अनुसार यदि हम देखें तो न्याय वैशेषिक पृथ्वीअण्ड से सम्बधित दर्शन हैं साख्यं योग का सम्बन्ध प्राकृताण्ड से है और मीमांसा वेदान्त का मायाण्ड से है! ये भेदात्मक अण्ड़ हैं! त्रिक् दर्शन शक्ताण्ड़ से सम्बध रखता हैं! शक्ति शिंव से अभिन्न है! जिसका निरूपण कुछ कुछ मीमांसा में भी हुआ है, लेकिन मीमांसा की शक्ति प्रमेयात्मक है! परन्तु इस दर्शन की शक्ति परमात्मा से शुरू है इसीलिए यह प्रमाता से भिन्न नहीं है प्रमाता की शक्ति होने से यह परा विद्या रूप है जो साधंक को पशुभाव से मुक्ति शुद्ध अद्वैत के शिव भाव में प्रतिष्ठित करता है! जो पाप पुण्य धर्म अधर्म, ऊँच नीच से परे है! जिस अवस्था को प्राप्त साधक पाप पुण्य आदि से प्रभावित नहीं होता है! -

पञ्चम् अध्याय

उपसंहार

वर्तमान समय में काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन की उपयोगिता!

वर्तमान समय में काश्मीर शैव दर्शन की उपयोगिता

भरतीय आस्तिक दर्शनों में काश्मीर शैव दर्शनों का विशेष स्थान है! काश्मीर शैव दर्शन एक ऐसा दर्शन है जो वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए भी अपने शुद्ध आगमिक स्वभाव को स्पष्टतया प्रकट करता है काश्मीर शैव दर्शन आगम दर्शन और वैशेषिक दर्शन निगम दर्शन है शिव सूत्र में चैतन्य आत्मा तथा ज्ञानंवन्धः ये प्रथम दो सूत्र आगम और निगम अन्तर को स्पष्ट करते है काश्मीर शैव दार्शन का यह स्पष्ट सिद्यान्त है कि साधक के गर्भधान से लेकर विवाह सस्कारो को विधि विधान से निभाना चाहिए![1] इसे त्रिक दर्शन भी कहते है! भारतीय दर्शन के ऐसे रहस्य जो अव तक गूढ़ता की गुफा में निद्रित थे! काशमीर दर्शन के घण्टा निनाद से उद्वुध हो कर जनमानस के सामने आ गये तीनों गुणों का स्वभाव इस स्वभाव, का कारण, गुणों की उत्पत्ति तथा विकास और ससांर, कर्म, अविधा प्रवृति की सादिता अनादिता आदि की ग्रन्थियाँ शैव दर्शन में ही आ कर खुलती है ससांर का मिथ्यात्व, सत्यत्व देशकाल सम्बन्ध का स्वरूप, स्वभाव और मूल कारण आदिं का युक्ति युक्त और समुचित प्रतिपादन इसी दर्शन में हो पाया है! समस्ताविश्व ब्रामाण्ड के विषय में यर्थाथवाद की दृष्टि का आश्रय लेते हुए पाठक और साधक दोनों को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के वीच से ले जाकर तृर्या की उच्च उच्व्तर और उच्च्तम भूमिका में पहुँचाना काश्मीर शैव दर्शन की अपना विशेषता है! -

काश्मीर शैव दर्शन विश्व के जड़ और चेतन के रहस्य की उजागर करता है विश्व का मूल क्या है तथा विश्व रचना किस प्रकार होती है वेदान्त एकोडहं वहुषयामि की वात

1. गर्आछानादितः कृत्वा

करता है, लेकिन एक से वहुत कैसे होता है? कौन होता है? किसलिए होता है, इसका ठीक से उत्तर नहीं दिया गया, वेदान्त माया व ब्रह्म के द्वैत से प्रारम्भ होता है माया ब्रह्म का विवर्त है लेकिन उस विवर्त का स्वरूप क्या है? यह स्पष्ट नहीं है माया को ब्रह्म की अनादि वासना कह कर संतोष किया गया है, माया से नीचे का प्रमेय विवेचन काश्मीर शैव दर्शन और वेदान्तादि में समान है लेकिन माया से अपर काश्मीर शैव दर्शन में वेदान्त से भिन्न है, मूलतः वेदान्त का ब्रह्म और माया अस्तित्व में कैसे आते हैं इसका उद्घाटन काश्मीर शैव दर्शन ने किया है!

काश्मीर शैव दर्शन के मूल आधार के रूप में मालिनि विजपोत्तर स्वच्छन्द, शिवसूत्र स्पनदकारिका विज्ञान; भैरव परात्रिशिका के नाम आते है किन्तु अभिनव प्रणीत परमार्थसार काश्मीर शैव दर्शन में वर्णित तत्वों को उद्धाटित करता है परमार्थसार को काश्मीर शैव दर्शन का प्रवेश द्वार माना जाता है इसमें शिव के स्वरूप का उसके द्वारा अपनी स्वातान्त्रय शक्ति से शुद्ध एवं अशुद्ध अध्वा का प्रकाशन, प्रमातायों के वन्धन तथा अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति से मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है इसमें परमतत्व शिव के स्वरूप का निरूपण किया गया है जिसमें वताया गया है कि शिव अपनी स्वातान्त्र्य शक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथ्वी इन चार अण्डो में सृष्टि का निर्माण करता है! इसमें छत्तीस तत्वों का विशद् विवेचन किया गया है प्रकृति से प्रारम्भ कर पृथ्वी तक की सृष्टि शिव को उसी की इच्छा से आवरित कर लेती है! आत्मा तीन कोशों से ढ़की हुई है इसी को त्रिविध मल भी कहा जाता है इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना करके अभिनवगुप्त ने सकुमार वुद्धि वाले मुमुक्षुयों के प्रति उपकार किया है!

शैव दर्शन का सिद्धान्त सनातन सिद्धान्त है इसका प्राचीनकाल से ही अति महत्व है वर्तमान समय में भी इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन कम नहीं किया जा सकता है आज के समय में वढ़ती इुई नास्तिकता को नष्ट करने के लिए काश्मीर शैव दर्शन एक अमोघ शस्त्र के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है द्वैत भाव को नष्ट करने के लिए शुद्ध विकल्पों की आवश्यकता होती है और शुद्ध विकल्पों की उत्पत्ति शुद्ध ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है और यह शुद्ध ज्ञान काश्मीर शैव दर्शन में पूर्णतया वर्णित है इसके अध्ययन मात्र से ही वालबुद्धि मुमुक्षु को भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है! वर्तमान समय उपयोगिता वादी विज्ञान का है जिसमें वढ़ती हुई भौतिकता तथा विलासता आध्यात्मिक बुद्धि को दूषित करती जा रही है ऐसी अन्धेरी अवस्था में काश्मीर शैव दर्शन प्रकाश का कार्य कर रहा है! काश्मीर शैव दर्शन ने ससांर को यथार्थ माना है अतः अम्युदय और निश्रेयस ये दोनों इस दर्शन के उच्यतम लक्ष्य हैं! यह दर्शन हमें योग की भी शिक्षा देता है! आज के युग में वढ़ती हुई विलासता भौतिकता मन को विचलित कर देती है ऐसी अवस्था में काश्मीर शैव दर्शन हमें वर्णित चारों उपाय हमें मन को स्थिर रखने में सहायक सिद्ध होते हैं जिससे हमारे मीतर मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत होती है और यही तीव्र इच्छा हमें परमतत्व तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होती है इस दर्शन की सवसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इस दर्शन का अधिकार ऐसा कोई भी मनुष्य हो सकता है जिसके हृदय में परमेश्वर के प्रति सच्ची भक्ति और लगाव हो और परमतत्व प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा हो इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन वर्तमान समय में भी परमतत्व को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उपयोगी सीढ़ी है जिस सीढ़ी में चढ़कर तीव्र जिज्ञासु मानव परमतत्व प्राप्त करने में सक्षम होता है इसीलिए वर्तमान समय में काश्मीर शैव दर्शन की अत्यन्त उपयोगिता है!

ग्रन्थसूची

ग्रन्थ सूची

क्रमाङ्क	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
1.	अनुत्तरप्रकाश पञ्चाशिका	अभिनवगुप्त	काश्मीर सस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं० 1918
2.	अभिनवभारती	अभिनवगुप्त	संडा०णबेन्द्र, हिन्दी विभाग भाग, दिल्ली विश्व विद्यालय	प्रथम०, सं० 1960
3.	अभिद्यावृत्तिमातृका	मुकुलभट्ट	चौख्म्बा विद्या भवन पो० बा० न०- 69 वाराणसी 221001	प्रथम सं० 1978
4.	ईश्वरप्रतिभिज्ञा विवृति विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं०1938, 41, 43
5.	ईश्वरप्रतिभिज्ञा विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं०1918, 21
6.	ईश्वरप्रतिभिज्ञा	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं० 1921
7.	काव्यालङ्कारसार	मुकुलभट्ट	चौखम्बा बिद्या भवन	प्रथम सं० 1940
	काव्यप्रकाश	(आचार्य विश्वेश्वर) मम्मट	ज्ञानमण्डल लिमि टेड़, वाराणसी	प्रथम सं० 1960
8.	गुरूनाथ परामर्श	मधुराज योगी	रिर्सच एण्ड़ पब्लिकेशन विभाग, जम्मू कश्मीर	प्रथम सं० 1960
9.	छान्दोग्योपनिषद	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	जनवरी सं० 1949
10.	जपसूत्र	कविराज म०म प० गोपीनाथप्रत्यागात्मनन्द	भरतीय विद्या प्रकाशन	प्रथम सं० 1998

12.	तन्त्रालोक विवृति विवेक	विवक	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्रथम सं० 1980
13.	तन्त्रासार	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्रथम सं० 1963
14.	तन्त्रभट्टधानिका	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्रथम सं० 1947
15.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	भारतीय विद्या प्रकाशन	प्रथम सं० 1918
16.	ध्वन्यालोक लोचन	अभिनवगुप्त	निर्णय सागर प्रैस बम्वई	प्रथम सं० 1928
17.	नृसिंहपूर्वतापनी	निगम	गीता प्रैस गोरखमुर	प्रथम सं० 1920
18.	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	मोतीलाल वनारसी दास	प्रथम सं० 1984
19.	परात्रिंशिका विवरण	अभिनवगुप्त	कश्मीर, संस्कृत सीरीज, श्रीनगर	प्रथम सं० 1931
20.	प्रतिभिज्ञा हृदयम्	आचार्य क्षेमराज	चौखाम्बा विद्या भवन पो वा० न०- 69 वाराण्सी 221001	प्रथम सं०
21.	योगवासिष्ठ शास्त्र	वाल्मीकि	मोतीलाल बणारसीदास	प्रथम सं 1949
22.	विज्ञानभैरव	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्रथम सं०
23.	वृहदकथामंजरी		चौखम्भा संस्कृत संस्थान बाराणसी-1	1973
24.	वोधपञ्चदशिका	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्रथम सं० 1948
25.	भगवतगीतार्थ संग्रह	अभिनवगुप्त	काश्मीर प्रताम स्टैम प्रैस, श्रीनगर	प्र० सं० 1933

26.	भगवतगीता	वेदव्यास	गीताप्रेस, गोरखपुर	प्र० सं० 1970
27.	भारतीयदर्शन	वलदेव उपाध्याय	चौखम्बा औरियण्एटलय पो० बा० न० 8	तृतीय, 1976
28.	भारतीय दर्शन	उमेशमिश्रा	चौखम्बा विद्या भवन पो० न० 69 वराणसी - 1	तृतीस सं० 1978
29.	भरतीय दर्शन	सोंपल्लिराधा	गुजरात विद्यापाठ अहमदाबाद	प्र० सं० 1919
30.	भारतीय दर्शन	डा० नरेन्द्र देवसिहं शास्त्री	साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरट	प्र० सं० 1966
31.	भारतीय दर्शन	रामकृष्ण आचार्य	विनोद पुस्तक मन्दिर रांगेय राघव मार्ग आगरा - 2	प्र० सं० 1978
32.	भारतीय दर्शन	जे एन० सिन्हा	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल	प्र० सं० 1966
33.	मालिनिविजय वार्तिक	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्र० सं०, 1921
34.	मालिनिविजय तन्त्र	आगम	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्र० सं०, 1921
35.	माण्डूक्यो पनिषद	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	जनवरी, 1949
36.	मुक्तिकोप निषद	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	जनवरी, 1930
37.	रहस्यपंचदशिका		गीताप्रेस, गोरखपुर	जनवरी, 1970

38.	राजतङ्गिणी	कल्हण	चौखम्बा विद्याभवन पो० बा० न०- 69 वाराणसी 221001	प्र० सं० 1970
39.	शिवसूत्र	वसुगुप्त	मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली-1110007	चतुर्थ सं० 1982
40.	षट्त्रिंशिकतत्व संदोह	क्षेमराज	ओरियण्टल रिचर्स इन्सटीच्यूट पब्लि-केशन, संस्कृत सीरीज, 90	प्र० सं० 1950
41.	षट्त्रिंशिकतत्व	आनंद	राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान	प्र० सं० 1918
42.	स्पन्दकारिका	भट्टकल्लट	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पटना, वाराणसी, मद्रास	प्र० सं० 1981
43.	सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	कलकत्ता संस्करण	प्र० सं० 1904
44.	याज्ञवल्कयस्मृति	याज्ञवल्क्य	चौखम्बा संस्कृत भवन सस्थान वराणसी - 1	तृतीय सं० 1985

